विषय-सूची

भूमिका

भाषा सदा प्रगतिशील रहती है। व्याकरण इसे बांधने का प्रयत्न करता है। साहित्य के समालोचक तथा जनरुचि दोनों ही भाषा को बांध कर रखना चाहते हैं। किसी तरह के परिवर्तन इन्हें पसन्द नहीं आते, फिर भी भाषा बँध कर नहीं रहती। वह सदा प्रगतिशील और परिवर्तनशील रहती है। हमारा विश्वास है कि यदि भाषा को सदा के लिए बाँध दिया जाय तो उसका प्राण ही कुण्ठित हो जायगा। संस्कृत व्याकरण ने संस्कृत भाषा को बहुत दूर तक बाँध दिया था, परिणाम यह हुआ कि संस्कृत बोलचाल की भाषा ही न रही।

संसार की भाषाएँ परिवर्तनशील हैं। फिर भी हम कह सकते हैं कि इन दिनों हिन्दी विशेष परिवर्तनशील है। यह अभी निर्माण की दशा में है। इससे उसमें नित नये शब्दों, नित नये प्रयोगों और नित नये मुहावरों का प्रवेश हो रहा है। यह संग्रह मेरी इस स्थापना का एक बहुत बड़ा प्रमाण है। इस संग्रह में मैंने हिन्दी के उन लेखकों को स्थान दिया है, जिनका हिन्दी-जगत में मान है और जो गद्य-लेखन की दृष्टि से अपने-अपने ढंग के प्रामाणिक लेखक माने जाते हैं। हिन्दी के अर्वाचीन युग के इन लेखकों की शैली में नवीन और

आसमान का अन्तर दिखाई देता है। आज से आठ-दस साल बाद इस शैली में और कितना परिवर्तन आ जायगा, यह अभी क कह सकता है।

हिन्दी में नवीन युग का प्रारम्भ बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से म जाता है। उनका निधन हुए आज आधी शताब्दी बीत गई है। इन प वर्षों में हिन्दी की शैली तथा रूप में जितना अन्तर आ गया उतना संसार की बहुत कम भाषाओं में आया होगा। बाबू हरि की शैली तथा श्री जनेन्द्र कुमार की शैली मिला कर देखिए, यह अ स्पष्ट हो जायगा।

इस संग्रह में वर्तमान युग की आधी शताब्दी के हिन्दी-गद्य का निश्चित करने का प्रयत्न किया गया है। इन विभिन्न शैलियों में अपनी ओर से कोई परिवर्तन नहीं किया। भारतवर्ष की कुछ भाषाओं के सुप्रसिद्ध लेखकों की कृतियां मैंने इस संग्रह के प्रारम्भ इस कारण दी हैं कि वे अनुवादित होकर वर्तमान हिन्दी का बहुत मह पूर्ण तथा सजीव भाग बन गई हैं। उन्हें सम्मानपूर्वक एक साथ देने अभिप्राय से मैंने उन्हें इस संग्रह के प्रारम्भ में रक्खा है।

एक बात और। हिन्दी के स्वरूप के विषय में आज अनेक के सम्बन्ध में मतभेद उपस्थित हो गया है। हिंदी का क्षेत्र अब इ विस्तृत होगया है कि यह होना स्वाभाविक ही था। लिंगों का प्र [illegible] और हिन्दोस्तानी का प्रश्न, अँग्रेजी शैली के अनुस

का प्रश्न—ये सब आजकल के हिन्दी साहित्यिकों में रोज की चरचा का विषय बने हुए हैं। मेरा ख्याल है कि इन सब प्रश्नों का समुचित हल वर्तमान युग के प्रतिभाशाली हिन्दी लेखक ही कर सकेंगे। इन बातों का निर्णय 'राजनीतिक पैक्टों' से नहीं हो सकता।

लाहौर,
१ नवम्बर, १६४१

धर्मवीर

भारत का इतिहास

(श्री रवीन्द्रनाथ टाकुर)

आजकल भारतवर्ष का जो इतिहास पढ़ा जाता है—जिसे रटकर लड़के परीक्षा देते हैं, वह भारत को आधी रात के सन्नाटे में दिखाई दिये हुए बुरे सपने की कहानी-मात्र है। न जाने कहां से कौन आये; लड़ाई-भिड़ाई, मारकाट का शोर मच गया; बाप-बेटे और भाई-भाई में राजगद्दी के लिये चोटें चलने लगीं; एक दल जाता है तो दूसरा दल आता है, वह सिधारता है तो तीसरा पधारता है। पठान-मुगल-पोर्चुगीज-फ्रांसीसी-अंगरेज, सब ने मिलकर उस दुःस्वप्न को उत्तरोत्तर जटिल बना डाला है।

किन्तु इस प्रकार रक्तरञ्जित चञ्चल स्वप्न का पर्दा डालकर देखने से भारत का यथार्थ रूप नहीं दिखाई दे सकता। इस पृथ्वी पर भारत-वासियों का स्थान कहां है, इसका कुछ भी उत्तर ये इतिहास भी नहीं देते। इन्हें देखने से तो यही जान पड़ता है कि भारत-वासी कहीं हैं ही नहीं, भारत में जो लोग खून-खराबी, मारकाट, लूटपाट कर गये हैं, वे ही जो कुछ हैं सो हैं।

मगर क्या उस दुर्दिन में उस मारकाट और खूनखराबी के सिवा और कुछ था ही नहीं! ऐसा नहीं हो सकता। आंधी के समय आंधी ही उस समय की प्रधान घटना है—यह बात आंधी के लाख-लाख गरजने पर भी नहीं मानी जा सकती। उस दिन भी उस धूलि-

धूसरित आकाश के तले घर-घर, जन्म-मृत्यु और सुख-दुख का क्र
जारी था। वह क्रम आंधी के मारे चाहे देख न पड़े, पर हमारे लि
यही जानने की वस्तु है, हमें इस समय उसी के जानने की जरूरत है।
किन्तु हमारे लिये यही प्रधान ज्ञेय होने पर भी, विदेशी के लिये क
आंधी ही प्रधान है। उस आंधी की धूल उसकी आंखों में ऐसी भ
गई है कि यह और कुछ देख ही नहीं सकता। इसका कारण यही
है कि यह हमारे घर के बाहर है। इससे हम विदेशी लेखकों के लिखे
हुए भारत के इतिहास में उसी धूल—उसी आंधी का वर्णन पाते हैं
अपने घर का हाल कुछ नहीं पाते। उस इतिहास के पढ़ने से जा
पड़ता है कि उस समय भारतवर्ष था ही नहीं, केवल मुगल-पठानों के
गर्जनपूर्ण बवंडर, सूखे पत्तों के सदृश, झंडे उड़ाकर उत्तर से दक्षिण
और पश्चिम से पूर्व तक घूम रहे थे।

किन्तु असल बात तो यह है कि उस समय भी हमारा देश
था। यदि नहीं था, तो इस उपद्रव-उत्पात के समय में भी रणजीतसिंह
शिवाजी, राणा प्रतापसिंह, कबीर, नानक, चैतन्यदेव, तुकाराम
रामदास आदि कहां से पैदा हो गये? तुलसी, सूर, भूषण आदि
कवियों ने कहां से जन्म लिया? उस समय दिल्ली और आगरा ही
थे; काशी, नवद्वीप, पंजाब, राजपूताना और महाराष्ट्र प्रांत भी थे। इ
सपूतों ने जिस समय जन्म लिया, उस समय हमारे घर में असल
भारतवर्ष में, वेग से जीवनस्रोत बह रहा था। उस समय हमारे घ
में जो चेष्टा की लहरें उठ रहीं थीं, जो सामाजिक परिवर्तन हो रहे थे
उनका ब्योरा विदेशियों के लिखे इतिहास में कहीं नहीं मिलता।

हम लोग भारतवर्ष के, आंधी में उड़ने वाले घास-फूस नहीं
हम दृढ़ वृक्ष हैं। सैकड़ों शताब्दियों से, हमारी जड़ की हजारों शाखाएं
भारतवर्ष के मर्मस्थान पर अधिकार जमाए बैठी हैं। किंतु हमारे अभाग

से, हमें जो इतिहास पढ़ना पड़ता है, वह ठीक इसके उल्टा भाव देता। हमारे लड़के भारत के साथ अपने ऐसे सम्बन्ध की बात जानने नहीं पाते। उन्हें जान पड़ता है कि भारत के वे कोई हैं ही नहीं; अन्य देशों से आये हुए सब कुछ हैं।

जब अपने देश के साथ हम अपने सम्बन्ध को ऐसा हीन समझते हैं, तब देश पर ममता या अनुराग कहां से हो? इस दशा में स्वदेश के स्थान पर विदेश को स्थापित करने में हम को कुछ भी संकोच नहीं होता। भारतवर्ष की बेइज्जती देखकर हम को मर्मवेदना और लज्जा का अनुभव ही नहीं हो सकता। हमारे अँग्रेजी पढ़े-लिखे नौजवान अनायास कह उठते हैं कि हमारे देश में पहले था ही क्या? हमको तो खान-पान, चाल-ढाल, रहन-सहन, सब कुछ विदेशियों से ही सीखना होगा।

भाग्यशाली देशों के निवासी देश के इतिहास में ही अपने चिरकालीन देश को पा जाते हैं। बाल्यावस्था में इतिहास ही उनके देश के साथ उनका घनिष्ट परिचय करा देता है। किन्तु हमारे यहां ठीक इससे उल्टा है। देश के इतिहास ने ही हमारे देश को छिपा रखा है। महमूद के आक्रमण से लेकर लार्ड कर्जन के साम्राज्य-गर्व से भरे हुए उद्गार निकलने तक जो कुछ भारत का इतिहास लिखा गया है, वह हमारे लिए विचित्र अंधकारमय कुहरा सा है। वह अपने देश को देखने में हमारी दृष्टि की सहायता नहीं करता; बल्कि स्वभावतः जो कुछ हम देख सकते हैं, उसमें भी रुकावट डालता है। वह ऐसी जगह पर अपना बनावटी प्रकाश डालता है, जहां से हमारा देश हमें अन्धकारमय जान पड़ता है। उस अन्धकार में नैतिक लालटैन के तमाशे की तरह नवाबों की विलास-शालाओं में झाड़-फानूसों का प्रकाश

इसके बाद प्रलय-रात्रि में, जब मुगल-साम्राज्य मरणासन्न पड़ा सिसक रहा था, श्मशान-भूमि में दूर से आये हुए गिद्धों में दा चातुरी और प्रवञ्चना की चोटें चलने लगीं; उनका वर्णन भी का इतिहास नहीं माना जा सकता। इसके बाद अँग्रेजों का शा शुरू होता है। वह पाँच पाँच वर्ष के हर एक लाट के शासन में हुआ शतरंज के समान विचित्र है। भारतवर्ष का यह इतिहास किसी काम का नहीं।

सब देशों के इतिहास एक ही ढंग के होने चाहिएँ कुसंस्कार है। इस कुसंस्कार को छोड़े बिना काम नहीं चल स भारतवर्ष के राष्ट्रीय दफ्तर से उसके राजाओं की वंशावली और पराजय के कागज-पत्र न पाकर जो लोग निराश हो जाते हैं और लगते हैं कि "जहां राजनीति नहीं, वहाँ इतिहास का क्या वि वे सचमुच ही धान के खेत में बैंगन ढूँढ़ने जाते हैं और वहां न पाकर धान को गिनती अन्न में ही नहीं करते। राष्ट्रीय माम भारतवर्ष को औरों से हीन समझ लेने पर भी अन्य ओर दृष्टि से वह हीनता जरा भी नहीं खटकती। उसी ओर से—अर्थात् घर की ओर से भारतवर्ष को न देखकर, हम लोग लड़कपन से छोटा समझते हैं और आप भी छोटे बनते हैं। अँग्रेज का जानता है कि उसके बाप-दादाओं ने अनेक युद्धों में जयलक्ष्मी है, इसी से वह भी अपने को रणगौरव, धनगौरव और राज्यगौ योग्य बनाना चाहता है; और हम क्या जानते हैं? हम जानते हमारे बापदादे बिलकुल ही असभ्य, कायर और मूर्ख थे; न कभी किसी युद्ध में विजय-वैजयन्ती उड़ाई, न किसी दे अधिकार जमाया और न अपने देश की उन्नति ही की। हमा

जानने के लिये शायद यह भारत का इतिहास है। हमारे बाप-दादाओं ने क्या किया सो तो हम कुछ भी नहीं जानते। फिर अब हम क्या करें? बस, औरों की नक़ल!

हम इस के लिए दोष किसे दें? लड़कपन से हम जिस ढंग की शिक्षा पाते हैं, उससे शिक्षा के पहले ही दिन से, देश के साथ जो हमारा हार्दिक सम्बन्ध है, वह विच्छिन्न होता चला जाता है। परिणाम यह होता है कि धीरे-धीरे हम देश के विरोधी और विद्रोही बनते चले जाते हैं।

हमारे देश के सुशिक्षित कहलाने वाले उपाधि-धारी लोग भी नासमझों की तरह दूसरों के स्वर में स्वर मिला कर बार बार कह उठते हैं कि देश तुम किसे कहते हो? हमारे देश में यह 'स्वदेश' की विशेषता कब थी, और इस समय भी कहां है?

इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देना सहज नहीं। इसका कारण यही है कि यह बात इतनी सूक्ष्म और इतनी बड़ी है कि केवल युक्ति और अल्प तर्क से समझी या समझाई नहीं जा सकती। यह देशी भाव एक प्रश्न के उत्तर में दो-चार बातें सुन लेने से समझ में नहीं आ सकता। भारत में लेक्चर सुनकर ही कोई देशी भाव को नहीं ग्रहण करता था। वह तो बचपन ही से हमारे ज्ञान के भीतर, हमारे प्रेम के भीतर, हमारी कल्पना के भीतर अनेक अलक्ष्य मार्गों से अनेक आकार धारण करके प्रवेश करता था। इस देशी भाव का नियम ही यह है कि वह इसी तरह ज्ञान, प्रेम और कल्पना में प्रवेश करके अपनी विचित्र जादूभरी शक्ति से चुपचाप छिपे-छिपे हृदय-संगठन करता है—अतीत के साथ वर्तमान का विच्छेद नहीं होने देता। इसी की कृपा से हम अब भी खड़े हैं, हम अब भी मरे नहीं, जीवित हैं।

भारतवर्ष की प्रधान सार्थकता या देखें बात क्या है ? इ
प्रश्न का जो स्पष्ट उत्तर हो सकता है, उसका समर्थन भारतवर्ष क
सच्चा इतिहास ही करेगा। भारत की सदा से यही चेष्टा देखी जाती
है कि वह अनेकता में एकता स्थापित करना चाहता है, वह अने
मार्गों को एक ही लक्ष्य की ओर अभिमुख करना चाहता है। ब
बहुत के बीच किसी एक को निस्संशयरूप से, अन्तरतर रूप
उपलब्ध करना चाहता है। उसका सिद्धान्त या उद्देश्य यह है कि
बाहर जो विभिन्नता देख पड़ती है उसे नष्ट न करके, भीतर जो
निगूढ़ संयोग देख पड़ता है, उसे प्राप्त करना चाहिये।

ऐक्य को प्रत्यक्ष करने या ऐक्य-विस्तार करने की यह चेष्टा
भारत के लिए अत्यन्त स्वाभाविक और अन्य लोगों की अपेक्षा सहज
भी है। भारत के इसी स्वभाव ने उसे सदा से राष्ट्र गौरव की ओर
से उदासीन बना रखा है। राष्ट्र-गौरव की जड़ है विरोध का भाव।
जो लोग ग़ैर को ग़ैर ही नहीं समझ सकते, अथवा यों कहिये कि
ग़ैर के प्रति सहानुभूति-शून्य ही नहीं हो सकते, वे राष्ट्र-गौरव की
प्राप्ति को अपने जीवन का परम लक्ष्य कभी नहीं मान सकते। दूसरे
के विरुद्ध अपने को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा ही राजनैतिक उन्नति की
नींव है। इसी तरह दूसरे के साथ अपने सम्बन्धबन्धन तथा अपने
भीतर के विचित्र विभागों और विरोधों में सामंजस्य स्थापन की चेष्टा
ही धर्मनीति की और समाज की [illegible] की नींव है।
ऐक्य की प्रशंसा करते हैं, पर [illegible]
, को पसन्द [illegible]
ने जिस एकता
राजनैतिक

कि उनको उनके भिन्न भिन्न अधिकारों में अलग-अलग स्थापि
कर दिया जाय। जो अलग ही है, उसे बलपूर्वक एक बना
से कभी न कभी वह अवश्य ही विच्छिन्न हो जाता है। उस विच्छे
के समय बड़ा अनर्थ —घोर अनिष्ट—हो जाया करता है। इस
भारत मिलाने, अर्थात् एक करने के इस नियम या रहस्य को अच
तरह जानता था। इसका उपाय भी उसने निराला ही निका
था। भारत ने समाज की परस्पर प्रतियोगिनी या विरोधि
सारी शक्तियों को सीमाबद्ध और विभक्त करके समाज-कलेवर
अखण्ड अतएव सर्वशक्तिमान् बना दिया था। उसने अ
अधिकार का क्रमशः उल्लंघन करने की चेष्टा करके विरो
शृंखला उपस्थित करने का अवसर ही नहीं दिया। उसने परस्पर
प्रतियोगिता (चढ़ा-ऊपरी) के मार्ग में ही समाज की सारी शक्ति
को एकत्र करके और उन्हें लड़ा-भिड़ा कर धर्म, कर्म गृहस्थाश्रम
आवर्तित, आन्दोलित, कलुषित और उद्भ्रान्त बना देने की स्वतन्त्र
कभी किसी को नहीं दी।

विधाता भारतवर्ष में विविध प्रकार की विभिन्न और विवि
जातियों को खींच लाया है। इससे कोई हानि नहीं। भारतवर्ष
आर्य जाति ने ग़ैर को भी अपना बना लेने की शक्ति पाई है। उ
शक्ति की चर्चा और प्रयोग करने का अवसर भी उसे प्राचीनकाल से
प्राप्त है। ऐक्य-मूलक सभ्यता को मनुष्य जाति की चरम सभ्यता कह
चाहिये। उसकी नींव, विचित्र उपकरणों द्वारा चिरकाल से भारतव
ही डालता आया है। ग़ैर कह कर उसने किसी को अपने से दू
नहीं किया, अनार्य कह कर उसने किसी को अपने घर से बाह
नहीं निकाला, असंगत कह कर उसने किसी की हँसी नहीं उड़ाई

शिक्षा का हेर-फेर

(श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

—:o:—

जो कुछ अत्यावश्यक या बहुत जरूरी है, उसी की लपेट में प
रहना मानव-जीवन का धर्म नहीं। हम लोग कुछ तो आवश्य
शृंखला में बंधे रहते हैं और कुछ स्वाधीन रहते हैं। हमारी देह सा
ही तीन हाथ की है, किन्तु साढ़े ही तीन हाथ का घर बनाने
हमारा काम नहीं चल सकता। उसमें स्वाधीनता-पूर्वक चलने-फि
के लिये लम्बी चौड़ी जगह रखनी पड़ती है, नहीं तो हमारे सुख औ
स्वास्थ्य में बाधा पड़ती है—हम तन्दुरुस्त और प्रसन्न नहीं रह सकते
शिक्षा के विषय में भी यही बात है। केवल आवश्यक शिक्षा के
के भीतर बालक-बालिकाओं को कैद कर रखने से उनका मन अच्छे
विकसित नहीं होने पाता। अत्यावश्यक शिक्षा के साथ-साथ
स्वाधीन पाठ न पढ़ायें जायँ - और और बातें न सिखाई जायँ—
बालक अच्छी तरह से मनुष्य नहीं होने पाते। बड़े हो जाने पर
वे एक तरह से बालक ही रह जाते हैं।

दुर्भाग्यवश हमारे लिये समय का सुभीता नहीं। जितनी ज
बन सकता है, विदेशी भाषा सीख कर और उसमें उत्तीर्ण होकर।
काम करना पड़ता है। इसी लिए बचपन से हमें—सिवा इसके
यहाँ वहां देखे बिना घुड़दौड़ के घोड़ों की तरह दौड़ने जायँ, पाठ क

करने में पीछे न रह जायँ—और किसी भी बात के लिये समय नहीं मिलता। यही कारण है कि बच्चों के हाथ में पाठ्य पुस्तकों के सिवा यदि कोई दूसरी मनोरंजक अथवा उपयोगी पुस्तक देखी जाती है, तो वह उसी समय छीन ली जाती है।

और मनोरंजक पुस्तकें मिल भी कहाँ सकती हैं? एक तो हमारी भाषा में उस प्रकार की पुस्तकें ही नहीं, और जो एक दो हैं भी, उनका होना न होना बराबर है, क्योंकि हमारे बच्चों को उनकी मातृभाषा उस तरह सिखाई ही नहीं जाती कि वे अपनी इच्छा के अनुसार घर बैठकर मातृ-भाषा के किसी ग्रन्थ का वास्तविक स्वाद पा सकें। वे बिचारे अँग्रेजी भी इतनी नहीं जानते कि अँग्रेजी की ही बालोपयोगी पुस्तकों में प्रवेश कर सकें।

बात यह है कि विधाता ने हमारे देश के बालकों के भाग्य में अँग्रेजी व्याकरण, कोश और भूगोल-विद्या को छोड़ कर और कुछ लिखा ही नहीं। इनके समान अभागा शायद ही और कोई हो। और और देश के बालक जिस उम्र में अपने नवोद्गत दाँतों से प्रसन्नता-पूर्वक गन्ना चूसते हैं, उसी उम्र में हमारे बच्चे स्कूल की बेंचों पर बैठकर, अपने छोटे-छोटे दुर्बल पैर हिलाहिला कर, केवल ऐसे बेंत हजम करते हैं, जिनमें मास्टर साहब की कटु गालियों के सिवा और किसी प्रकार का सुस्वादु मसाला नहीं मिला रहता। फल इसका यह होता है कि शारीरिक, मानसिक, दोनों ही प्रकार के खाद्य हजम करने की शक्ति कम हो जाती है। इस यन्त्र की दुर्बलता का ही फल है कि यद्यपि हम बड़ी बड़ी बी० ए०, एम ए० की पदवियाँ पा लेते हैं और ढेर की ढेर पुस्तकें निगल जाते हैं तथापि हमारी बुद्धि यथेष्ट बलिष्ठ और परिपक्व नहीं होती। न तो हम किसी विषय को अच्छी तरह समझ

ही सकते हैं और न आदि से अन्त तक किसी विषय की उत्तम रच
हो कर सकते हैं। हमारे मतामत, बातचीत और आचार-वि
स्वाधीन और परिपक्व नहीं होते। इसी से हम अपनी इस मानसि
दुर्बलता को अत्युक्ति, आडम्बर और उछल-कूद के द्वारा ढँकने की चे
किया करते हैं।

इसका प्रधान कारण यही है कि बचपन से हमारी शिक्षा के सा
आनन्द का मेल नहीं रहता। हम केवल वही कण्ठस्थ किया करते हैं
जो बहुत ही आवश्यक होता है। ऐसा करने से हमारा काम तो किसी
तरह चल जाता है, किन्तु हमारी बुद्धि का विकास नहीं हो पाता।
यद्यपि हवा खाने से पेट नहीं भरता भोजन करने से ही पेट भरता है,
परन्तु भोजन को अच्छी तरह पचाने के लिये हवा खाने की भी
ज़रूरत रहती है। इसी प्रकार किसी शिक्षा-पुस्तक को भली भाँति
पचाने के लिए—आत्मसात् करने के लिये—दूसरी आनन्द-जनक
पुस्तकों की सहायता की भी आवश्यकता है, क्योंकि आनन्द-लाभ
के साथ ही साथ, पढ़ने से पढ़ने की शक्ति अलक्षित भाव से—बिना
जाने ही—बढ़ती रहती है और धारणा तथा विचार-शक्ति सहज ही
बलवती होती रहती है।

किन्तु बहुत कुछ सोच-विचार करने पर भी हम यह नहीं समझ
सकते कि इस मानसिक शक्ति को क्षीण करने वाली निरानन्दमयी
शिक्षा के हाथ से हमारे बालकों का छुटकारा कैसे होगा?

एक तो अँग्रेज़ी भाषा बिल्कुल ही विजातीय भाषा है। हमारी
भाषा के शब्द-विन्यास से इसका ज़रा भी मेल नहीं। भाव-विन्यास
तथा विषय प्रसंग भी इसका विदेशी है। इसकी बातों से हम अपरिचित
है। इसमें भावान्तरिक अनमेल होने से पढ़ते ही हमें कण्ठस्थ करने प

प्रारम्भ करना पड़ता है। तब हमारी वही दशा होती है जो किसी अन्न को बिना चबाये ही निगल जाने वाले की होती है।

नीचे की क्लासों में जो मास्टर पढ़ाते हैं, प्रायः उनमें से कोई तो एन्ट्रेन्स पास होते हैं और कोई एन्ट्रेंस फेल। अंग्रेजी-भाषा, भाव, आचार-व्यवहार और साहित्य से उनका भलो भांति परिचय नहीं होता। बालकों को सिखलाने की अपेक्षा वह भुलाना बहुत ही अच्छी तरह जानते हैं और इस विषय में इन्हें सफलता भी खूब होती है। छोटी उम्र में जो अंग्रेजी सिखाई जाती है, वह इतनी मामूली और इतनी धुंधली होती है कि उससे किसी प्रकार का रस आकर्षण कर लेना बालकों के लिये एक प्रकार से असम्भव ही होता है। रसास्वादन की कोई आशा भी तो नहीं करता। मास्टर भी कहते हैं और विद्यार्थी भी कहते हैं कि हमें इससे मतलब नहीं, यदि हमने खींच-खाँच कर मतलब निकाल लिया तो बस काम हो गया—आफत टल गई। परीक्षा में पास हुए कि आफिसों में नौकरियाँ तैयार हैं। शङ्कराचार्य्य के इस फबते हुए वचन का पूरा-पूरा हम अनुसरण करते हैं—

"अर्थमनर्थं भाव्य नित्यं, नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्"

अर्थात् अर्थ को सदा अनर्थ समझना, उसमें सुख भी नहीं है और उसमें सत्य भी नहीं है।

तब बालकों के भाग्य में बाक़ी क्या रह गया ? यदि वे केवल देश-भाषा ही सीखते तो उन्हें रामायणादि ग्रन्थ तो पढ़ने के लिये मिलते। यदि कुछ भी न सीखते तो खेलने को तो मिलता। पेड़ों पर चढ़ कर, पानी में तैर कर, फूल तोड़ कर प्रकृति माता के साथ सैकड़ों उपद्रव कर के शरीर की पुष्टि, मन की प्रसन्नता और बाल्य प्रकृति की परितृप्ति तो प्राप्त कर सकते। पर अंग्रेजी सीखने से न हुआ सीखना,

ही सकते हैं और न आदि से अन्त तक किसी विषय की उत्तम रच
ही कर सकते हैं। हमारे मतामत, बातचीत और आचार-वि
स्वाधीन और परिपक्व नहीं होते। इसी से हम अपनी इस मानसि
दुर्बलता को अत्युक्ति, आडम्बर और उछल-कूद के द्वारा ढँकने की चे
किया करते हैं।

इसका प्रधान कारण यही है कि बचपन से हमारी शिक्षा के स
आनन्द का मेल नहीं रहता। हम केवल वही कण्ठस्थ किया करते
जो बहुत ही आवश्यक होता है। ऐसा करने से हमारा काम तो कि
तरह चल जाता है, किन्तु हमारी बुद्धि का विकास नहीं हो पाता
यद्यपि हवा खाने से पेट नहीं भरता, भोजन करने से ही पेट भरता है
परन्तु भोजन को अच्छी तरह पचाने के लिये हवा खाने की
जरूरत रहती है। इसी प्रकार किसी शिक्षा-पुस्तक को भली भाँ
पचाने के लिए—आत्मसात् करने के लिये—दूसरी आनन्द-जन
पुस्तकों की सहायता की भी आवश्यकता है, क्योंकि आनन्द-ला
के साथ ही साथ, पढ़ने से पढ़ने की शक्ति अलक्षित भाव से—बि
जाने ही—बढ़ती रहती है और धारणा तथा विचार-शक्ति सहज
बलवती होती रहती है।

किन्तु बहुत कुछ सोच-विचार करने पर भी हम यह नहीं मान
सकते कि इस मानसिक शक्ति को क्षीण करने वाली निरानन्दम
शिक्षा के हाथ से हमारे बालकों का छुटकारा कैसे होगा?

एक तो अँग्रेज़ी भाषा बिलकुल ही विजातीय भाषा है। हमा
भाषा के शब्द-विन्यास से उसका ज़रा भी मेल नहीं। भाव-विन्या
तथा विषय प्रसंग भी उसका विदेशी है। उसकी बातों से हम अपरिचि
हैं। इससे धारणाशक्ति उत्पन्न होने के पहले ही हमें कण्ठस्थ करने

ही सकते हैं और न आदि से अन्त तक किसी विषय की उत्तम र
हो कर सकते हैं। हमारे मतामत, बातचीत और आचार-वि
स्थायित्व और परिपक्व नहीं होते। इसी से हम अपनी इस मान
दुर्बलता को अत्युक्ति, आडम्बर और उछल-कूद के द्वारा ढँकने की
किया करते हैं।

इसका प्रधान कारण यही है कि बचपन से हमारी शिक्षा के
आनन्द का मेल नहीं रहता। हम केवल वही कण्ठस्थ किया करते
जो बहुत ही आवश्यक होता है। ऐसा करने से हमारा काम तो f
तरह चल जाता है, किन्तु हमारा बुद्धि का विकास नहीं हो पा
पाता। हवा खाने से पेट नहीं भरता भोजन करने से ही पेट भरता
परन्तु भोजन को अच्छी तरह पचाने के लिये हवा खाने की
ज़रूरत रहती है। इसी प्रकार किसी शिक्षा-पुस्तक को भली
पचाने के लिए आत्मसात करने के लिये—दूसरी आनन्द
पुस्तकों की सहायता की भी आवश्यकता है, क्योंकि आनन्द
के साथ ही साथ, पढ़ने से पढ़ने की शक्ति अलक्षित भाव से—
जाने ही—बढ़ती रहती है और धारणा तथा विचार-शक्ति सहज
बलवती होती रहती है।

किन्तु बहुत कुछ सोच-विचार करने पर भी हम यह नहीं स
सकते कि इस मानसिक शक्ति को क्षीण करने वाली निरानन्द
शिक्षा के हाथ से हमारे बालकों का छुटकारा कैसे होगा?

एक तो अँग्रेज़ी भाषा बिल्कुल ही विजातीय भाषा है। इ
भाषा के शब्द-विन्यास से हमारा कुछ भी मेल नहीं। भाव-वि
तथा विषय-प्रसंग भी उसका विदेशी है। उसकी बातों से हम अपरि
हैं। इससे धारणा-शक्ति उत्पन्न होने के पहले ही हमें कण्ठस्थ करने

न हुआ खेलना और न मिला प्रकृति के मत्य-राज्य में प्रवेश करने का अवकाश। साहित्य के कल्पनाराज्य में प्रवेश करने का द्वार उनके लिये बन्द रहा। हमारे भीतर और बाहर दो उदार और उन्मुक्त विहार-भूमियां हैं। परन्तु, हाय! हमारे हतभाग्य बालक इन दोनों मातृ-भूमियों की गोद से जुदा हो कर एक विदेशी कारागार में बेड़ियों से जकड़ कर रक्खे जाते हैं। ईश्वर ने जिनके लिए माता पिताओं के हृदय में स्नेह का संचार किया है, जननी की गोद को कोमल कर दिया है और जो आकार में छोटे होने पर भी सारे गृह की शून्यता को पूर्ण कर देते हैं, उन्हें अपना बाल्यकाल विदेशी भाषा के व्याकरण और कोश की रटंत में बिताना पड़ता है जिसमें न जीवन है, न आनन्द है, न अवकाश है, न कोई नवीनता है और न हिलने-डुलने की तिल भर जगह ही है। वे क्या बड़े होने पर अपनी बुद्धि से कोई काम कर सकते हैं, अपना बल लगाकर विघ्नबाधाओं को दूर कर सकते हैं और अपने स्वाभाविक तेज से मस्तक को ऊंचा कर सकते हैं? कभी नहीं। वे केवल रटना, नक़ल करना और गुलामी करना ही सीखेंगे।

इसमें तो ज़रा भी सन्देह नहीं कि विचार और कल्पना ये दो शक्तियां जीवनयात्रा के लिये बहुत ही आवश्यक हैं। मनुष्य बनने के—वास्तविक मनुष्यत्व प्राप्त करने—के लिये इन दो शक्तियों के बिना काम ही नहीं चल सकता। यदि हम बाल्यकाल से विचार और कल्पना की ओर लक्ष्य न देंगे तो वे काम पड़ने पर हमें तैयार न मिल सकेंगी।

किन्तु, हमारी वर्तमान शिक्षाप्रणाली में विचार और कल्पना-शक्ति के बढ़ाने का मार्ग प्रायः बिलकुल ही बन्द है। हमें बहुत समय तक केवल भाषा शिक्षा ही में लगे रहना पड़ता है। पहले ही कहा जा चुका है कि अंग्रेज़ी बड़ी ही क्लिष्ट विदेशी भाषा है और हमारे शिक्षक

ायः इतने अल्पबुद्धि होते हैं कि हमारे मन में भाषा के साथ-साथ
ावों का सहज ही प्रवेश नहीं हो सकता। इसी लिए अँग्रेजी भावों का
ोड़ा सा परिचय पाने के लिये हमें बहुत समय खोना पड़ता है। और
ब तक हमारी विचारशक्ति अपने योग्य किसी काम को न पाकर बिल्कुल
ी निश्चेष्ट और निकम्मी पड़ी रहती है। एंट्रन्स और फर्स्ट आर्टस तक
ो हमारा समय केवल साधारण काम चलाऊ अँग्रेजी सीखने ही में
जाता है। इसके बाद ही एकाएक बी० ए० क्लास में हमारे सामने बड़े-
बड़े पोथे और अतिशय विचारसाध्य विषय रख दिये जाते हैं। परन्तु
उस समय न तो हमें उनको अच्छी तरह समझने का अवसर ही मिलता
है और न हमारी शक्ति ही उन्हें समझने योग्य रहती है। अतएव हमें
लाचार होकर, सबको मिला कर और एक बड़ा सा गोला बनाकर, एक
ही बार एक ही कौर में उसे निगल जाना पड़ता है।

हम पढ़ते तो बराबर जाते हैं; परन्तु उसके साथ साथ विचार
नहीं करते। हम ईंट चूने के ढेर को ऊँचा तो करते जाते हैं, परन्तु उसे
काम के योग्य नहीं बनाते—अर्थात् बुद्धिमत्ता से उसे उपयोगी मकान
के रूप में नहीं चुनते। इस तरह ईंट, चूना, रेत, सीमिंट, खम्भे, लोहे
आदि का ढेर पर्वत के समान ऊँचा हो जाता है। ठीक इसी समय विद्या-
लय से हुक्म जारी होता है कि एक तिमंजले मकान की छत तैयार करो।
बस फिर क्या है; तत्काल ही हुक्म की पाबन्दी की जाती है और हम
पूर्वोक्त सामग्री के ढेर के शिखर पर चढ़ कर दो ही वर्ष में पीट-पाट
कर किसी तरह उसके ऊपरी भाग को समतल या सपाट कर देते हैं,
और जब वह ढेर कुछ-कुछ छत के समान दिखाई देने लगता है तब
कह देते हैं कि लीजिए तिमंजले की छत तैयार हो गई।

यह सच है कि जो माल मसाला इकट्ठा किया गया है वह बहुत

जाते हैं, अन्तरंग के साथ उनका सम्बन्ध नहीं होता।

इस तरह लगातार बीस बाईस वर्ष तक हम जिन भाव सीखते हैं उनका हमारे जीवन के साथ रासायनिक मिश्रण नहीं हो इस कारण हमारा मन एक अद्भुत ही स्वरूप धारण कर लेता है। इन सीखे हुए भावों में से कुछ भाव तो बाहर से जोड़े और चिप हुए होते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो काल पाकर उड़ जाते हैं। हमें बालपन ही से भाषा-शिक्षा के साथ-साथ भाषा-शिक्षा की आव भावों के साथ ही साथ हमारी जीवन-यात्रा भी नियमित होती रहे अर्थात् उन भावों का हमारी जीवनचर्या पर भी यथेष्ट प्रभाव प रहे—तभी हमारे समस्त जीवन में वास्तविक सामंजस्य स्थापित सकता है; हम सहज ही जैसे चाहिए वैसे मनुष्य बन सकते हैं। भाषा, भाव, जीवन आदि सभी विषयों को समुचित परिमाण में सकते हैं।

अब हम एक बार अच्छी तरह से विचार करके देखेंगे कि जिस भाव या जिस ढंग से जीवन निर्वाह करना है उसके अनुकूल ह शिक्षा नहीं है, हमें जिस घर में मरणपर्यन्त निवास करना है उस घ उसका चित्र हमारी पाठ्यपुस्तकों में नहीं है, जिस समाज में हमें जीवन बिताना है उस समाज का कोई भी उच्च आदर्श हमारे शिक्षा साहित्य में नहीं पाया जाता, हम अपने माता पिताओं को, भाई-ब को, बन्धु-बान्धवों को उसमें प्रत्यक्ष नहीं देख पाते, हमारे दै कार्यकलाप उसमें स्थान नहीं पाते, हमारे आकाश और पृथ्वी, ह निर्मल प्रभात और सुन्दर सान्ध्यकाल और हमारे हरे-भरे शस्य उसमें दिखाई नहीं देते, तब हम समझ सकेंगे कि हमारी शिक्षा साथ हमारे जीवन के मिश्रण की कोई सम्भावना नहीं है—दोनों बीच में बड़ा भारी अन्तर अवश्य रहेगा, हमारी शिक्षा से ह

जीवन के सारे आवश्यकताओं की पूर्ति कभी न हो सकेगी। हमारे जीवन की दीवार जिस जगह नहीं है उससे सैकड़ों हाथ की दूरी पर हमारी शिक्षा की कृत्रिम भीत पड़ती है। हम जिस शिक्षा में अपना सारा जन्म व्यतीत करते हैं वह हमें केवल बाबूगीरी या ऐसे ही और किसी व्यवसाय के योग्य बना देती है। इससे अधिक वह हमारी कोई भलाई नहीं करती। आठ पहर के दैनिक जीवन में हम उसका कोई उपयोग नहीं करते। यह सब वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की कृपा है। इसके लिए छात्रों को दोष देना अन्याय है, उन बेचारों का इसमें कोई दोष नहीं। क्योंकि उनका ग्रन्थ-जगत् एक प्रान्त में रहता है और निवास-जगत् दूसरे प्रान्त में, इसी लिये हमें यह देख कर जरा भी आश्चर्य नहीं होता कि हमारे देश का जो पुरुष यूरोपीय दर्शन, विज्ञान और न्यायशास्त्र का अच्छा पण्डित है, वही पुराने कुसंस्कारों का, झूठे अन्धविश्वासों का—यत्नपूर्वक पोषण कर रहा है; जो विचित्र भावपूर्ण साहित्य का स्वाधीनता-पूर्वक उपभोग करता है वही अपने जीवन के भावों को उच्च शिखर पर आरूढ़ नहीं कर रहा है, केवल धन कमाने और सांसारिक उन्नति के साधनों में व्यस्त हो रहा है। ऐसे लोगों की विद्या और व्यवहार के बीच एक दुर्भेद्य अन्तर पड़ रहा है, जिसके कारण ये दोनों कभी अच्छी तरह नहीं मिल सकते।

इस का फल यह होता है कि ये दोनों एक दूसरे से उत्तरोत्तर अधिकाधिक विरुद्ध होते जाते हैं। हमारी सीखी हुई विद्या से हमारा जीवन का व्यवहार बराबर प्रतिवाद करता हुआ चलता है। इससे उस विद्या के विषय में शुरू से ही अश्रद्धा और अविश्वास उत्पन्न होता रहता है। हम समझने लगते हैं कि यह विद्या एक प्रकार का भ्रम है और सारी यूरोपीय सभ्यता इसी के ऊपर प्रतिष्ठित है, परन्तु हमारा

करते कि हम अपनी मातृभाषा नहीं जानते, किन्तु यह बा
"अपनी दुर्बलता को ढकते हैं "कि हमारी मातृभाषा के द्वारा
हृदय के पूरे-पूरे भाव कभी प्रकाशित किये जा सकते हैं ? हम
के शिक्षित मनों के काम की यह भाषा नहीं ।" असल बा
है कि अपने को अपनी पहुँच के बाहर समझ कर हम
उन्हें खट्टा बतला दिया करते और उनकी उपेक्षा किया करते हैं ।

चाहे जिस ओर से और जिस प्रकार से देखा जाय
निर्विवाद है कि हमारे भाव, भाषा और जीवन के बीच सामञ्ज
नहीं । इन तीनों की अखण्ड एकता का सुफल हमें प्राप्त नहीं।
दरिद्र भिक्षुक था। वह जाड़ों में थोड़ी भिक्षा मागकर जब तक जाड़ों
वस्त्र खरीदने को समर्थ होता था तब तक गर्मी के दिन आ जाते
और गर्मी के दिनों में चेष्टा करके जब तक वह हलका ग्रीष्मोप
वस्त्र खरीदने को समर्थ होता था तब तक जाड़ा आ धमकता
देवता ने उसकी यह दुर्दशा देख दयार्द्र होकर जब उसे वर देना च
तब उसने कहा—"मैं और कुछ नहीं चाहता, केवल मेरा यह
फेर मिटा दीजिए । मैं जो गर्मी के दिनों में जाड़े के वस्त्र और
के दिनों में गर्मी के वस्त्र पाता हूं, इस गड़बड़ को यदि आप मि
तो मेरा जीवन सफल हो जाय।"

हमारी भी ईश्वर से यही प्रार्थना है । भाषा और भाव-स
यह हेर-फेर मिटते ही हम चरितार्थ हो जायँगे । हम श
शीतोपयोगी-वस्त्र और ग्रीष्म में ग्रीष्मोपयोगी वस्त्र नहीं
हैं । इसी लिए हमारी यह सारी दुर्दशा और दरिद्रता है ।
हमारे पास है क्या नहीं ! इस समय हम विधाता से यही वर
हैं कि हमारे लिए केवल क्षुधा के साथ अन्न, शीत के सा
भाव के साथ भाषा और शिक्षा के साथ जीवन एकत्र कर दो

दा-जुदा न रहने से। इस समय हमारी यह दशा है:—

पानी में मीन प्यासी।
सुन यह आवे हांसी॥

हमारे पास पानी भी है और प्यास भी है, यह देख कर संसार हँस रहा है और हमारी आँखों से आँसू टपक रहे हैं। क्योंकि पानी पास रहते भी हम लोग उसे नहीं पी सकते।

—:०:—

वृष्टि

(श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय)

चलो नीचे उतरें, आषाढ़ आ गया, चलो नीचे उतरें
छोटी वर्षा की बूँदें हैं। अकेले एक जनी तो ज
का मुँह भी नहीं धो सकती—मल्लिका के छोटे से हृदय
भर सकती। किन्तु हम हजारों, लाखों, करोड़ों हैं। चाहें
बोर दें। छोटा या क्षुद्र कौन है?

देखो, जो अकेला है वही क्षुद्र है—वही सामान्य है
एक नहीं है वही तुच्छ है। देखो बूँदो! कोई अकेले नीचे
आधी ही राह में इस प्रचण्ड सूर्य की किरणों से सूख जाओ
हम हजारों, लाखों, करोड़ों, अर्बुदों बूँदें नीचे उतर क
पृथ्वी को भर दें।

हम पृथ्वी को डुबा देंगी। हमें पर्वत की चोटी पर च
छाती पर पैर रख कर पृथ्वी पर उतरना होगा—झरने के
मोती का आकार धारण करके निकलेंगी। नदियों के श
परिपूर्ण करके उन्हें कूल का बांध पहना कर, महा तरङ्गों से
बजा कर, लहर के ऊपर लहर चढ़ा कर हम क्रीड़ा करेंगी।
सब नीचे उतरें।

कौन युद्ध करेगा—वायु! छिः! वायु के कन्धे
हम देश-देशान्तर में घूमेंगी। हमारे इस वर्षा-युद्ध में
घोड़ा है—उसकी सहायता पावें तो हम जल थल एकाक

वृष्टि

(श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय)

चलो नीचे उतरें, आषाढ़ आ गया, चलो नीचे उतरें। हम छोटी छोटी वर्षा की बूँदें हैं। अकेले एक जनी तो जूही की कली का मुँह भी नहीं धो सकती—मल्लिका के छोटे से हृदय को भी नहीं भर सकती। किन्तु हम हजारों, लाखों, करोड़ों हैं। चाहें तो पृथ्वी को बोर दें। छोटा या क्षुद्र कौन है ?

देखो, जो अकेला है वही क्षुद्र है—वही सामान्य है। जिसमें एका नहीं है वही तुच्छ है। देखो बूँदो ! कोई अकेले नीचे न उतरना, आधी ही राह में इस प्रचण्ड सूर्य की किरणों से सूख जाओगी - चलो हम हजारों, लाखों, करोड़ों, अर्बुदों बूँदें नीचे उतर कर सूखी पृथ्वी को भर दें।

हम पृथ्वी को डुबा देंगी। हमें पर्वत की चोटी पर चढ़ कर उसकी छाती पर पैर रख कर पृथ्वी पर उतरना होगा—झरने के मार्ग में मोती का आकार धारण करके निकलेंगी। नदियों के शून्य हृदय को परिपूर्ण करके उन्हें रूप का वस्त्र पहना कर, महा तरङ्गों से भीषण नाद बजा कर, लहर के ऊपर लहर चढ़ा कर हम क्रीड़ा करेंगी। आओ, सब नीचे उतरें।

कौन युद्ध करेगा—वायु ? छिः ! वायु के कन्धे पर चढ़ कर हम देश-देशान्तर में घूमेंगी। हमारे इस वर्षा-युद्ध में वायु ही योद्धा है—उसकी सहायता पावें तो हम जल थल एकाकार कर

या की सहायता मिलने से हम बड़े-बड़े घरों को ढा देने की शक्ति
रखती हैं। वायु के कन्धे पर चढ़ कर हम लोगों के घरों के दरवाजों के
भीतर घुसती हैं। कुर्सी की बड़े यत्न से बिछाई हुई शय्या को हम
भिगो देती हैं — सोती हुई सुन्दरी के ऊपर जाकर गिर पड़ती हैं। वायु
तो हमारा गुलाम है।

देखो भाई, कोई अकेले नीचे न उतरना। ऐक्य ही हमारा बल है। नहीं तो हम कुछ भी नहीं हैं। चलो हम क्षुद्र वृष्टि-बिन्दु हैं—किन्तु पृथ्वी के प्राणों की रक्षा करेंगी। खेतों में अन्न उपजावेंगी—मनुष्य के प्राणों की रक्षा होगी। नदियों में नावें चलेंगी, मनुष्यों का रोजगार चलेगा। तृण, लता, वृक्ष आदि को पुष्ट करेंगी—पशु पक्षी, कीट पतंग जीवन पावेंगे। हम क्षुद्र वृष्टि बिन्दु हैं, हमारे समान कौन है! हम ही संसार की रक्षा करती हैं।

तो फिर ओ नव नील मेघमाला! ओ वृष्टि-बिन्दुओं की जननी! ओ मात्र दिङ्मण्डलव्यापिनी! सूर्यतेजसंहारिणी! तुम आओ और आकाशमण्डल को घेर लो ताकि हम नीचे उतरें! आओ बहन सुहासिनी सौदामिनी! वृष्टि-बिन्दुकुल के कुल को उज्ज्वल करो। हम हँसती नाचती हुई पृथ्वीतल पर उतर पड़ें। तुम वृत्रासुर के मर्मस्थल को फाड़ने वाला वज्र हो, तुम भी गरजो। इस उत्सव में तुम्हारे सिवा और उपयुक्त बाजा कौन है! तुम भी पृथ्वीतल पर गिरोगी! गिरो, किन्तु केवल गर्व से उन्नत मस्तक पर ही गिरना! इस परोपकारी क्षुद्र अन्न के ऊपर मत गिरना! हम इसकी रक्षा करने जाती हैं। गिरना हो तो इस पर्वत के शिखर पर गिरो। उखाड़ना हो तो इन चोटी पर के पेड़ों को उखाड़ो। क्षुद्र से कुछ न बोलना! हम क्षुद्र हैं, क्षुद्र के लिये हमारे हृदय में व्यथा होती है।

देखो, देखो, हमें देख कर पृथ्वी पर के लोगों का आहार

देखो 'पेड़ और सिर हिला रहे हैं—नदी हिल-डुल रही है' बड़े
वृक्ष सिर झुकाकर प्रणाम कर रहे हैं। किसान खेत जोत रहा है, लड़
भाग रहे हैं। केवल बनिये की औरत झाल का रस लिये भीतर भा
जा रही है। इसीलिए कवि को 'दो-एक अमरस के टुकड़े रखने न द
हम खायेंगी। तो इसके टुकड़े गिने हों।

हमने जल की जाति में जन्म लिया है, लेकिन तो भी ह
रंगरस करना जानती हैं। लोगों के छप्पर फाड़ कर घर के भी
झाँकती हैं लोग जिस घर में सोए होते हैं वहाँ छत के छेद
भीतर जाकर उनको चौंका देती हैं। जिस राह में बहु-बेटियाँ कल
लेकर पानी भरने जाती हैं उसी राह में हम कीचड़ कर रखती हैं
चमेली का पराग धो डाल कर भौंरों को भूखों मारती हैं। नौकर-चा
कपड़ा धो कर फैलाते हैं तो उसे कीचड़ में डालकर उनका काम ब
देती हैं। हम क्या कम दिल्लगीबाज हैं? तुम सब चाहे जो कुछ क
हम रसिक हैं।

खैर, इसे जाने दो। हमारा बल देखो। देखो पर्वत, कन्द
घर-द्वार आदि सबको धोकर हम एक नई ही हरी भरी पृथ्वी की रच
कर देंगी। देखो, शिथिल दुर्बल नदी को कूलप्लाविनी, देश को डु
देने वाली, अनन्त तरंग-संकुला, लंबे, चौड़े पाट की जल-राश
बना देंगी। किसी देश के मनुष्यों की रक्षा करेंगी। किसी दे
के मनुष्यों का (नदियों के द्वारा) संहार करेंगी—कितने ही जहाज
को ठिकाने पर पहुँचा देंगी और कितने ही जहाजों को डुबा य
ठिकाने लगा देंगी, पृथ्वी को जलमय बना देंगी। फिर भी हम छु
हैं? हमारा ऐसा [illegible] है? हमारा ऐसा बलवान् कौ
कौन है?

देख कर वैरागी बाबा की लार टपक पड़ती है, किन्तु कभी वे गोस्वामी के मांस भोजन के सम्बन्ध में विचार करने की इच्छा ही नहीं करते कि वह उचित है या अनुचित। क्योंकि वे जानते हैं, इस लोक में चाहे जितना कष्ट हो, पर परलोक में तो गोलोक अवश्य ही मिलेगा।

मनुष्य जिन अत्याचारों के अधीन है, उनकी जड़ मनुष्य का प्रयोजन है। जड़ पदार्थ को अपने वश में किये बिना मनुष्य जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता। इस लिये बाहुबल का प्रयोजन है। इसी कारण बाहुबल का अत्याचार भी है। बाहुबल का फल बढ़ाने के लिए समाज का प्रयोजन है। उसके साथ ही समाज का अत्याचार भी है। जैसे परस्पर समाज बन्धन में बँधे बिना मनुष्य-जीवन का उद्देश्य सुसम्पन्न नहीं होता, वैसे ही परस्पर आन्तरिक बन्धन में बँधे बिना मनुष्य जीवन का अच्छी तरह निर्वाह नहीं होता। अतएव समाज का जैसा प्रयोजन है, वैसा ही, बल्कि उससे भी अधिक प्रणय का प्रयोजन है। बाहुबल या समाज का अत्याचार होने के कारण जिस तरह बाहु-बल या समाज को मनुष्य त्याज्य या अनादर की चीज नहीं समझते उसी प्रकार प्रणय का अत्याचार होने के कारण वह भी त्याज्य या अनादरणीय नहीं हो सकता। किन्तु जैसे मनुष्य अत्याचारी बाहुबल और समाज बल को परित्यक्त या अनादृत न करके धर्म के द्वारा उसे शान्त करने की चेष्टा करता है, वैसे ही प्रणय के अत्याचार को भी धर्म के द्वारा शान्त करने का यत्न करना कर्त्तव्य है। धर्म का भी अत्याचार अवश्य है। धर्म का अत्याचार रोकने के लिए अगर अन्य शक्ति का प्रयोग किया जायगा तो उसका भी अत्याचार होगा। अत्याचार की शक्ति स्वाभाविक है। यदि धर्म का अत्याचार शान्त कर सकने वाली कोई शक्ति है, तो वह ज्ञान है। किन्तु ज्ञान का भी अत्याचार है। इसका उदाहरण द्वैतवाद और प्रत्यक्षवाद नाम के दो

तब उसे अपने मन में यह दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिये कि मैं केवल अपने सुख के लिये उसमें हस्तक्षेप नहीं करूंगा। जितना संभव हो, जिस पर स्नेह रखता हूँ उसका किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं करूंगा। जितना कष्ट सहना पड़े, मैं सहूंगा, तथापि स्नेहपात्र के किसी अनिष्ट-कर्म में प्रवृत्त न करूंगा।

यह बात सुनने में बहुत छोटी और साधारण है और पुरानी लोकश्रुति की पुनरुक्ति जान पड़ सकती है, किन्तु समय पर इसके अनुसार चलना उतना सहज नहीं है। उदाहरण के तौर पर दशरथकृत रामनिर्वासन की बात को ही ले लीजिये। इसी के द्वारा इस सामान्य नियम के प्रयोग की कठिनता पाठकों की समझ में आजायगी। यहां कैकेयी और दशरथ दोनों ही प्यार के अत्याचार में प्रवृत्त हैं। कैकेयी दशरथ के ऊपर और दशरथ राम के ऊपर प्यार का अत्याचार कर रहे हैं। इनमें कैकेयी का कार्य स्वार्थ-पर और नीच कह कर चिर-परिचित है। कैकेयी का कार्य स्वार्थ-पर नीच अवश्य है, किन्तु उसके प्रति इतनी कटूक्तियों का प्रयोग शायद विहित नहीं कहा जा सकता। कैकेयी ने अपने किसी इष्ट की कामना नहीं की—अपने पुत्र की भलाई सोची थी। यह सत्य है कि पुत्र के मंगल से ही माता का मंगल है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जो एतद्देशीय पिता-माता अपनी जाति के शौक से पुत्र को पढ़ने के लिये विलायत नहीं जाने देते, उनके कार्य की अपेक्षा कैकेयी का यह कार्य सौगुना अस्वार्थ-पर है।

इस बात को जाने दो। कैकेयी के दोष-गुणों का विचार करने के लिये इस समय हम प्रस्तुत नहीं हैं। दशरथ ने सत्यपालन के लिये राम को वन भेज कर भरत को राज्य दिया। इसमें उन्हें आत्यंतिक पुत्र का वियोग स्वीकार करना पड़ा और अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। इसी से भारतवर्ष के साहित्य का इतिहास उनके यश के कीर्तन

ही पदार्थ है। सब संसार जब प्रेम का विषय हो जाता है तब वह ही धर्म नाम को प्राप्त होता है। धर्म जब तक सार्वजनिक प्रेम के को धारण नहीं करता, तब तक वह सम्पूर्णता को नहीं प्राप्त होता। मनुष्यों ने कार्यतः स्नेह को धर्म से अलग कर रखा है, अतएव का अत्याचार रोकने के लिये धर्म के द्वारा स्नेह पर शासन होने आवश्यकता है।

—॥—

ब्रह्मचर्य

(महात्मा गांधी)

खूब चर्चा और दृढ़ विचार करने के बाद १९०६ मैंने ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया। यह व्रत लेते हुए मुझे बड़ा कठिन मालूम हुआ मेरी शक्ति कम न थी। विकारों को क्योंकर दबा सकूंगा? फिर भी मैं देख रहा था कि यह मेरा स्पष्ट कर्तव्य है। मेरी नीयत साफ थी। यह सोच कर कि ईश्वर शक्ति और सहायता देगा, मैं कूद पड़ा।

आज २० साल बाद उस व्रत को स्मरण करते हुए मुझे सानन्दाश्चर्य होता है। संयम पालन करने का भाव तो १९०१ से ही प्रबल था और उसका पालन कर भी रहा था, परन्तु जो स्वतन्त्रता और आनन्द मैं अब पाने लगा वह मुझे नहीं जान पड़ता कि १९०६ के पहले मिला हो। क्योंकि उस समय मैं वासनाबद्ध था—हर समय उसके अधीन हो जाने का भय था। अब वासना मुझ पर सवारी करने में असमर्थ हो गई।

फिर मैं ब्रह्मचर्य की महिमा और अधिकाधिक समझने लगा। व्रत मैंने फिनिक्स में लिया था। घायलों की शुश्रूषा से छुट्टी पाकर मैं फिनिक्स गया था। वहां से मुझे तुरन्त जोहानिसबर्ग जाना था। मैं वहाँ गया और एक महीने के अन्दर ही सत्याग्रह संग्राम की नींव पड़ी। मानों वह ब्रह्मचर्य व्रत उसके लिये मुझे तैयार करने ही आया हो। सत्याग्रह की कल्पना मैंने पहले ही से नहीं बांध रखी थी। उसकी उत्पत्ति तो अनायास—अनिच्छा से—हुई। पर मैंने देखा कि उसके पहले मैंने जो जो कदम किये थे, जैसे फिनिक्स जाना, जोहानिसबर्ग का भारी घर-खर्च कम कर डालना और अन्त को ब्रह्मचर्य व्रत लेना, वे मानों इसकी पेशबन्दी थे।

ब्रह्मचर्य के सोलहों आने पालन का अर्थ है—ब्रह्मदर्शन। मुझे शास्त्रों के द्वारा न हुआ था। यह अर्थ मेरे सामने धीरे धीरे सिद्ध होता गया। उससे सम्बन्ध रखने वाले शास्त्रवचन मैंने पढ़े। ब्रह्मचर्य में शरीर रक्षण, बुद्धि रक्षण और आत्मा का रक्षण है, यह बात मैं व्रत के बाद दिन-दिन अधिकाधिक अनुभव करने क्योंकि अब ब्रह्मचर्य को एक घोर तपश्चर्या रहने देने के बदले, बनाना था, उसी के बल पर काम चलाना था। इस लिए उसमें खूबि के नित नए दर्शन होने लगे।

पर मैं जो इस तरह उसमें रस की घूंटें पी रहा था, इससे कोई यह समझे कि मैं उसकी कठिनता को अनुभव नहीं कर रहा था। इससे यद्यपि मेरे छप्पन साल पूरे होगए हैं, फिर भी उसकी कठिनता का अनुभव होता ही है। यह अधिकाधिक समझता जाता हूँ कि यह असिधारा व्रत है निरन्तर जागरूकता की आवश्यकता देखता हूँ।

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए स्वादेन्द्रिय को वशमें करना चाहिए मैंने खुद अनुभव करके देखा है कि यदि स्वाद को जीत लें तो फि ब्रह्मचर्य का पालन अत्यन्त सुगम हो जाता है। इस कारण इसके बाद मे भोजन प्रयोग केवल अन्नाहार की दृष्टि से नहीं, पर ब्रह्मचर्य की दृष्टि से होने लगे। प्रयोग द्वारा मैंने अनुभव किया कि भोजन कम, सादा, बिन मिर्च मसाले के और स्वाभाविक रूप में करना चाहिए। मैंने खुद क साल तक प्रयोग करके देखा है कि ब्रह्मचारी का आहार वनपके फ हैं। जिन दिनों मैं हरे या सूखे वनफलों पर रहता था, उन दिनं जिस निविकारता का अनुभव होता था वह खुराक मे परिवर्तन करने ब बाद न हुआ। फलाहार के दिनों में ब्रह्मचर्य सहल था, दूधाहार व कारण कष्ट साध्य हो गया है। फलाहार छोड़ कर दूधाहार क्यों ग्रह करना पड़ा। इसका जिक्र समय आने पर होगा ही। यहां तो इतन

ना ही धर्म है कि ब्रह्मचारी के लिए दूध का आहार विघ्न-कारक है, इसमें मुझे तिलमात्र सन्देह नहीं है। इससे कोई यह अर्थ न निकाल ले कि हर ब्रह्मचारी के लिए दूध छोड़ना जरूरी है। आहार का असर ब्रह्मचर्य पर क्या और कितना पड़ता है इसके सम्बन्ध में अभी बहुतेरे प्रयोगों की आवश्यकता है। दूध के सदृश शरीर के स्नायुओं को मजबूत बनाने वाला और उतनी ही आसानी से हजम हो जाने वाला फलाहार अब तक मेरे हाथ नहीं लगा है। न कोई वैद्य हकीम या डाक्टर ऐसे फल या अन्न बता सके हैं। इस कारण दूध को विकारोत्पादक जानते हुए भी मैं इसके त्याग की सिफारिश किसी से नहीं कर सकता।

बाहरी उपचारों में जिस प्रकार आहार के प्रकार की और परिमाण की मर्यादा आवश्यक है, उसी प्रकार उपवास की बात समझनी चाहिये। इन्द्रियाँ ऐसी बलवान् हैं कि चारों ओर से ऊपर-नीचे दसों दिशाओं से उन पर घेरा डाला जाता है तभी वे कब्जे में रहती हैं। सब लोग इस बात को जानते हैं कि आहार के बिना वे अपना काम नहीं कर सकतीं। इस लिए इस बात में मुझे जरा भी शक नहीं है कि इन्द्रिय-दमन के हेतु से इच्छापूर्वक किये उपवासों से इन्द्रिय-दमन में बड़ी सहायता मिलती है। कितने ही लोग उपवास करते हुए भी सफल नहीं होते। वे यह मान लेते हैं कि केवल उपवास से ही सब काम हो जावेगा। बाहरी उपवास-मात्र करते रहते हैं, पर मन में छप्पन भोगों का भोग लगाते रहते हैं। उपवास के दिनों में इन विचारों का स्वाद चखा करते हैं कि उपवास पूरा होने पर क्या क्या खायेंगे और फिर शिकायत करते हैं कि न तो स्वादेन्द्रिय का संयम हो पाया और न जननेन्द्रिय का। उपवास से वास्तविक लाभ वहीं होता है जहाँ मन भी देह-दमन में साथ देता है। इसका यह

मुझे दिन-दिन दिखाई देने लगी। आज भी दिखाई देती है। त्याग के क्षेत्र की सीमा ही नहीं, जैसी कि ब्रह्मचर्य की महिमा की भी सीमा नहीं है। ऐसा ब्रह्मचर्य अल्प प्रयत्न से साध्य नहीं होता। करोड़ों के लिये तो यह हमेशा एक आदर्श के रूप में ही रहेगा। क्यों कि प्रयत्नशील ब्रह्मचारी नित्य अपनी त्रुटियों का दर्शन करेगा। अपने हृदय के कोने कुचरे में छिपे विकारों को पहचान लेगा। और उन्हें निकाल बाहर करने का सतत उद्योग करेगा। जब तक अपने विचारों पर इतना कब्जा नहीं हो जाय कि अपनी इच्छा के बिना एक भी विचार न आने पावे, तब तक वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं। जितने भी विचार हैं वे सब एक तरह के विकार हैं। उनको वश में करना वायु को वश में करने से भी कठिन है। इतना होते हुए भी यदि आत्मा कोई चीज है तो फिर यह भी साध्य होकर रहेगा। रास्ते में बड़ी कठिनाइयां आती हैं, इससे यह न मान लेना चाहिये कि वह असाध्य है वह तो परम अर्थ है और परम अर्थ के लिये परम प्रयत्न की आवश्यकता हो तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है।

परन्तु मैंने देश आने पर देखा कि ऐसा ब्रह्मचर्य सहज प्रयत्न-साध्य नहीं है। कह सकते हैं कि तब तक मैं मूर्छा में था कि फलाहार से विकार समूल नष्ट हो जायेंगे और इसलिये अभिमान से मानता था कि अब मुझे कुछ करना बाकी नहीं रहा है।

परन्तु इस विचार के प्रकरण तक पहुँचने में अभी तक विलम्ब है। इसी बीच इतना कह देना आवश्यक है कि ईश्वर साक्षात् करने के लिये मैंने जिस ब्रह्मचर्य की व्याख्या की है उसका पालन जो करना चाहते हैं वे यदि अपने प्रयत्न के साथ ही ईश्वर पर श्रद्धा रखने वाले होंगे तो उन्हें निराश होने का कुछ भी कारण नहीं।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ॐ

(गीता अ० २, श्लोक

इसलिये आत्मार्थी का अन्तिम साधन तो राम नाम और
कृपा ही है। मैंने हिन्दुस्तान आने पर ही इस बात का अनुभव कि

ॐ निराहारी के विषय तो शान्त हो जाते हैं, परन्तु रसों
शमन नहीं होता। ईश्वर दर्शन से रस भी शान्त हो जाते हैं।

गीता का तत्त्व

(चक्रवर्ती श्री राजगोपालाचार्य)

हिन्दू समाज के सभी सम्प्रदाय वाले भगवद्गीता को शास्त्र और प्रमाण मानते हैं। श्रद्धा-भक्ति के साथ गहरे चिन्तन से, भगवद्गीता के कुछ श्लोकों को पढ़ने पर हमें अपने पूर्वजों के देखे हुए तत्त्व और ऋषियों द्वारा स्थापित हिन्दू धर्म के स्वरूप का दिग्दर्शन मिलता है। हिन्दू धर्म की नींव पर ही हमारी सब संस्कृति, कला, साहित्य और ऐसी सब भाग्य-सम्पत्ति, जिनका कि हमें फख्र है, भवन रूप में स्थित हैं। इस हिन्दू धर्म के स्वरूप को यथार्थवत् जानना हमारा कर्तव्य है। इस लिए गीता के सारांश को अच्छी तरह पढ़ पढ़ कर, उसका ज्ञान प्राप्त कर लेना लाभकारक होगा।

❀ ❀ ❀ ❀

भौतिक-शास्त्र के थोड़े से विषय जान लेने पर, कुछ लोगों को भ्रम हो जाता है। उसमें भी बिना मेहनत के, दूसरों के अनुसन्धान के फलस्वरूप प्राप्त हुआ ज्ञान कुछ लोगों में ज्यादा भ्रान्ति पैदा कर देता है, जैसे कि मण्डी में सस्ते दाम पर मोल ली हुई पुरानी चीजें। कौनसी चीज छोटी है, कौनसी बड़ी, कौनसी चीज नजदीक है, कौन सी दूर— इन बातों को जांचने की उनकी अक्ल गुम हो जाती है। कह डालते हैं कि जो हमारी समझ में न आवे वह चीज है ही नहीं। मनुष्य-बुद्धि से परे सब पदार्थों को मिथ्या बताकर उनका बहिष्कार करने में वे अगुआ बनते हैं। वे कहा करते हैं—'क्या शास्त्र और क्या धर्मग्रन्थ, सब ढकोसले हैं, सब बेवकूफों के रचे हुए हैं।' और कुछ ज्यादा कहने

वे यह कहते हैं कि ये सब लोगों की आँखों में धूल झोंकने के लिये दगाबाजों की लिखी हुई गप्पें हैं। लेकिन, उन्हीं भौतिक शास्त्रों की सच्ची खोज में लगने वाले—भौतिक-शास्त्र के तत्त्वों को ढूँढ़ निकालने में सारी आयु और शक्ति को न्योछावर कर दिन-रात एक कर देने वाले विद्वान्—ऐसे बावले नहीं होते। भौतिक-शास्त्र के विद्वान् विनीत हुआ करते हैं। वे जानते हैं कि अपनी देखी हुई चीज बड़ी होने पर भी अब तक न देखी गई वस्तु के परिमाण से छोटी है। वे यह बात भी जानते हैं कि यद्यपि काल-क्रम में और कई विषयों का अनुसन्धान कर भौतिक-शास्त्र को व्यापक बना दें फिर भी ऐसा एक विषय है जो मनुष्य बुद्धि से सर्वथा अप्राप्य है और वैज्ञानिक खोज की सीमा से बाहर है। यथार्थ में भौतिक-शास्त्रों के अच्छा अनुशीलन कर कौशल प्राप्त करने वाले कभी विनय को नहीं छोड़ते. अपनी हासिल की हुई जानकारी से और भी ज्यादा नम्र हो जाते हैं। यह मानते हुये कि वैज्ञानिक खोज से परे एक वस्तु है, उस परमार्थ के सामने, ज्ञान और नम्रता से वे सिर झुकाते हैं।

सब कारणों का कारण होकर रहने वाले मूल कारण का, प्रकृति विषयों की विधि होकर रहने वाली परा-शक्ति का, मनुष्य की बुद्धि और अन्वेषण में समावेश नहीं हो सकता। लेकिन मनुष्य की बुद्धि अपनी रचना-की खूबसूरती के कारण, अपनी कमियों और हद को न जानती हुई, पूर्णता का अनुभव कर रही है। अगर वैसे न होती, तो वह कुछ भी काम नहीं कर सकती। उसे यह भावना होती है कि किसी भी विषय को और किसी भी सचाई को अनुसन्धान कर हम समझ सकते हैं। यह भावना उसकी रचना के स्वभाव की उपज है। इसके स्वाभाविक होते हुए भी, सच बात तो और ही है। यद्यपि मनुष्य की बुद्धि एक परम उत्कृष्ट रचना है, तो भी वह इस पूर्ण मूल-

[illegible] गये, जिसका कि वह स्वयं एक अंश है, अपने अन्दर नहीं समा सकती। छटांक, चाहे कितनी भी सुन्दर क्यों न हो, छटांक में मानन-[illegible] को अपने अन्दर नहीं समा सकती। जिस तख्ते पर एक आदमी खड़ा हो, वह खड़ा हुआ ही उस तख्ते को ऊपर नहीं उठा सकता। चाहे वह [illegible] ज़बरदस्त होने पर भी जिस चीज़ पर भार पड़ा है, उसे उखाड़ नहीं सकता। गाड़ी खींचने वाले घोड़े को गाड़ी में चढ़ा देने पर क्या वह गाड़ी खींच सकेगा? मनुष्य की बुद्धि परमार्थ को छोड़कर अलग नहीं [illegible]क सकती। यही कारण है कि उस परमार्थ को ही खींच लेना उसके लिये अशक्य है, अर्थात् वह उसे अपनी ज्ञान-सीमा के अन्दर नहीं ला सकती। पेट का अन्न-कोष सभी प्रकार के आहार को हज़म कर [illegible]ता है, लेकिन वह अपने आप को पचा नहीं सकता। कुछ हद तक [illegible]र सकता है, इतने में उसकी शक्ति समाप्त होकर, वह उसके आगे लाचार होगी। सांप चाहे वह कितना भी क्षुधातुर और क्षुब्ध हो अपनी पूँछ को पकड़ कर अपने आप को निगल नहीं सकता। उसी तरह सब वस्तुओं का कारण-भूत परमार्थ मनुष्य-बुद्धि में समाया नहीं जा सकता।

❀ ❀ ❀ ❀

वैज्ञानिक खोज की सीमा को हम हर बात में देख सकते हैं। किसी भी चीज़ की खोज में लगो, एक हद तक ही उसकी सचाई को जान सकते हो। जैसे कुआं खोदते वक्त चट्टान को देखकर खोदने का काम हम बन्द कर देते हैं, वैसे ही किसी भी खोज में एक हद तक गहराई में पहुँच कर, मनुष्य बुद्धि से परे चट्टान पर आदमी का मस्तिष्क टक्कर खाता है, यही सीमा है। वेदान्त में ही यह बात हो, सो नहीं। पदार्थ-शास्त्र के परिशीलन में और गणित तत्त्व में, हम इस सीमा को

बार बार देखते आ रहे हैं। हमने जितना देखा है और देख सक
उतना ही है, जैसे दूध पर फैली हुई मलाई। उसके नीचे बह दू
है जिसे हम कभी नहीं देख सकते। क्या वेद, उपनिषद्, गीता
दर्शन-ग्रन्थ और क्या ऋषियों के वचन और जीवन-चरित्र सा
साधारण गवेषणाओं से परे इस रहस्य के विषय का ही विवे
करते हैं। पंचेन्द्रियों के आधार पर और पंचेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान
प्रमाण रखकर उसके आधार पर हम जिन बातों को अनुमान से ज
सकते हैं, वे ही विज्ञान शास्त्र के विषय हैं। इस से अगम्य विषय
कैसे देख सकते हैं, और कैसे दिखा सकते हैं, यही भिन्न-भिन्न ध
का उद्देश्य और प्रयत्न लक्ष्य बना हुआ है। यही कारण है कि धार्मि
ग्रन्थों में बताये हुए विषय भौतिक-शास्त्र में बताये हुए स्पष्ट हेतु और
अन्वेषण के मुताबिक नहीं हैं। कोरे प्रयत्न प्रमाण से अज्ञेय ऐसे विष
की गवेषणा करने के लिए भक्ति चाहिए, ध्यान चाहिए शान्ति चाहिए,
नियम चाहिए, तप चाहिए—यही वेद और धर्मशास्त्रों का कथन है।
पास के गांव को जाना हो तो पैदल जा सकते हैं, दूर के गांव को जा
हो, तो हम अपने पैरों का उपयोग न कर गाड़ी और बैल के सहा
निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचते हैं। पेड़ पर चढ़ना दूसरी बात है। कुएँ में
उतरना कुछ और है। फूल को कान में रखने से सुगन्धि का भे
मालूम नहीं होगा। सुन्दर चित्र को नाक से सूंघने पर सौन्दर्य का भा
न होगा। इन्द्रियों के अग्राह्य पदार्थ का मन में भास होना, इन्द्रियानु
भव से स्थापित गवेषणा-विधियां और प्रमाणों से अशक्य है। इ
कारण पारमार्थिक बातों की विवेचना करने के लिये भक्ति, नियम
पवित्रता, ध्यान, ईश्वर-वन्दना और तप की आवश्यकता है। बाह
और भीतरी इन्द्रियों का दमन कर, मन को एकाग्र रखना ही तप है,
कि शरीर का दुखाना ।

किसी भी धर्म या सम्प्रदाय को ठीक तरह से जानना हो, तो द्वेष या अनादर-पूर्ण बुद्धि बेकार ठहरेगी। जिस विषय को हम महान् नहीं समझते, उस विषय का यथार्थ ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो सकता। मगर हम इस धारणा से कि 'ये सब धोखेबाज हैं, हमें ठगना ही इनका इरादा है, अपने किसी फायदे के लिये झूठ और दगा से धर्मों की स्थापना कर इन्होंने स्मृति और पुराणों को लिख डाला' अपने मन को स्याह कर पढ़ने बैठेंगे, तो कुछ भी नहीं सूझेगा। ऐसा सोचना भी मूर्खता है। हम में जो अब अक्ल, सावधानी और सन्देह की भावना है उस जमाने के लोगों में भी ये सब थीं। यह सोचना कि वे सब निठल्ले थे, बहुत ही सहज में इनकी चालबाजी में फँस गये, गलत है। हम में जो तेज़ बुद्धि है वह उस युग के लोगों में भी थी। विषयों में अक्ल लड़ाकर खोज कर झूठ और दगा को ढूँढ़ निकालने के लिये उन दिनों उन्हें काफी अवसर भी था। धर्मों की उन्नति उस युग में इसलिये हुई कि उन लोगों को धर्माचार्यों के साक्षात् दर्शन मिले थे, उन्होंने उनके उपदेशामृत का पान किया था, और उनमें यह भावना भी थी कि उन आचार्यों के गुण और जीवन अनमोल और आदरणीय हैं। यह समझना कि कपट और वंचना से उनका ज्यादा फैलाव हुआ, बिल्कुल गलत है।

कोई भी संस्था या कोई भी विधान समय के फेर से कुछ स्वार्थियों के वश में पड़कर उनके स्वार्थ का साधन बन जाता है। इसी रीति से, क्या धार्मिक संस्थाएँ और क्या धर्म, सब कलुषित हो गये हैं, यह बात तो सच है। लेकिन, पीछे से हानि हुई है, इस कारण से उन धर्मों के संस्थापक महात्माओं को अपमानित करना गवेषणा का नियम है। परनाले में गन्दगी को देख कर, क्या हम यह सोच सकते हैं कि

बादल में भी मैलापन था ? हम बादल और वर्षा को जैसे दृष्टि से देखते हैं, वैसे ही आदि ऋषियों और उनके प्रणीत को मान देकर, हमें उनका अध्ययन करना चाहिये। चोर को कर पकड़ने के लिये घर में घुसने वाले पुलिस अफसर के से, हम गीता या किसी दूसरे धर्मावलम्बियों के दार्शनिक ग्रन्थों पढ़ने बैठेंगे, तो उनका कुछ फायदा नहीं निकलेगा और वैसा पढ़ना नहीं चाहिए। ऐसे ग्रन्थों का अध्ययन करते समय, हमें उसी और प्रेम के साथ उनके निकट पहुँचना चाहिये, जैसे कोई पुत्र पिता के पास जा रहा हो।

—'नवशक्ति' से

रस-समीक्षा

(लेखक—श्री काका साहब कालेलकर)

रसों का संस्कार

अगर सोचें तो सहज में ही यह पता लग जायगा कि साहित्य, संगीत और कला, इन तीनों के ही भावनाक्षेत्र से इसके भीतर एक ही वस्तु समाई हुई है। इस वस्तु को 'रस' कहते हैं। प्राचीन साहित्याचार्यों ने रस का विवेचन कई रीतियों से किया है। संगीत में राग और ताल के अनुसार रस बदलते हुए देखे गये हैं। चित्रकला में नव रसों के भिन्न-भिन्न प्रसंग तूलिका के सहारे चित्रित किये जाते हैं। रेखाओं-द्वारा विविध रंगों के साहचर्य से रस व्यक्त किये जाते हैं। परन्तु साहित्य, सङ्गीत और चित्रकला की सामूहिक दृष्टि से या जीवन-कला की समस्त सार्वभौमिक दृष्टि से रस का अब तक किसी ने विवेचन नहीं किया है। साहित्याचार्यों ने जो कुछ विवेचन किया है, उसे ध्यान में रखकर और उसका संस्कार कर उसको और भी अधिक व्यापक बनाने की आवश्यकता है।

यह जरूरी नहीं है कि पूर्वाचार्यों ने जिन नव-रसों का विवेचन किया है, हम उनके वही नाम और उतनी ही संख्या मान लें। हमारे संस्कारी जीवन में कलात्मक रस कौन-कौन से हैं, अब इसकी स्वतन्त्रता-पूर्वक छानबीन होनी चाहिए।

शृंगार और प्रेम

हमारे यहाँ शृंगार रस 'रसराज' की उपाधि से अलंकृत किया गया है। वह सब रसों का सरताज माना गया है। पर बात वास्तव में ऐसा नहीं है। इसे सर्वश्रेष्ठ रस नहीं कह सकते।

प्राणी मात्र में स्त्री पुरुष का एक-दूसरे की तरफ आकर्षण होता है। सृष्टि ने इस विचार को इतना अधिक उन्मादकारी बनाया है कि इसके आगे मनुष्य की तमाम होशियारी, सारा सयानापन और संयम गायब हो जाता है। सृष्टि की रचना ही कुछ ऐसी है कि काम-वृत्ति का आरम्भ वासना से होता है लेकिन काम अगर धर्म के पथ से चले तो वह विशुद्ध प्रेम में परिणत हो जाता है। विशुद्ध प्रेम में आत्म-विलोपन सेवा और आत्मबलिदान की प्रधानता रहती है। काम विकार है। प्रेम को कोई विकार नहीं कहता, क्योंकि उसके पीछे हृदय की उपासना रहती है।

शृंगार आरम्भ में भोगप्रधान होता है। पर हृदय-धर्म की रासायनिक क्रिया से वह भावना-प्रधान हो जाता है। यह रसायन और परिणति ही काव्य और कला का विषय हो सकती है। प्राचीन नाट्यकारों ने जिस प्रकार नाटक में रंगमंच पर भोजन करने का दृश्य दिखलाने का निषेध किया है, उसी प्रकार इन्होंने भोग-प्रधान शृंगारी चेष्टाओं को भी खुल्लमखुल्ला बतलाने पर रोक थाम कर दी है। यह तो कोई नहीं कहता कि नाट्य-शास्त्रकारों को खाने पीने आदि से घृणा थी। देह-धर्म के अनुसार इन वस्तुओं के प्रति स्वाभाविक आकर्षण तो रहेगा ही, पर ये प्रसङ्ग और ये आकर्षण कला के विषय नहीं हो सकते। कलाकृति में इन वस्तुओं के लिए कोई स्थान नहीं है। हमारे नाट्यशास्त्र में शृंगार-चेष्टाओं के प्रति संयम रखने का

हो जाता है, उसकी सब चेष्टा के अच्छे से अच्छे कलात्मक प्रदर्शन करने लगते हैं।

इस प्रेमरस का शुद्ध वर्णन भवभूति के उत्तर रामचरित में पाते हैं। 'शकुन्तला' में प्रेम के प्रारम्भिक शृङ्गार का स्वरूप भी है और अन्त का परिष्कृत शुद्ध रूप भी है। सच पूछो तो प्रेम को ही 'रसराज' की पदवी से विभूषित करना चाहिये। शृङ्गार को तो केवल उसका आलम्बन विभाव कह सकते हैं। शृङ्गार के वर्णन से मनुष्य की चित्तवृत्ति सहज में ही उद्दीपित की जा सकती है। इस सहूलियत के कारण सभी देशों और सभी काल में कलामात्र में शृङ्गार रस की प्रधानता पाई जाती है। जैसे ऋतुओं में वसन्त, उसी तरह रसों में शृङ्गार उन्मादकारी होता है। जिस तरह लोगों की या व्यक्ति की खुशामद करके बातचीत का रंग बड़ी आसानी से निभाया जा सकता है, उसी तरह शृङ्गार रस को जागृत करके बहुत थोड़ी पूंजी के ऊपर आकर्षण करने वाली कृति का निर्माण किया जा सकता है।

सच्चे प्रेमरस में अपना व्यक्तित्व खोकर दूसरे के साथ तादात्म्य भाव (सम्पूर्ण अभेद भाव) का अनुभव करना होता है, इसी लिये उसमें आत्म-विलोपन और सेवा की प्रधानता होती है।

वीर रस

वीर रस भी अपने शुद्ध रूप में आत्मविश्वास को सूचित करता है। सामान्य स्वस्थ स्थिति में रहने वाला मनुष्य अपने आत्मतत्त्व को प्रकट नहीं कर सकता, क्योंकि वह शरीर के साथ एकरूप होकर रहता है। जब किसी असाधारण प्रसङ्ग के कारण खरी कसौटी का समय आता है तब मनुष्य अपने शरीर के बन्धन से ऊंचा उठता है। इसी में वीर रस की उत्पत्ति है।

विकसित करके और उसके लिए आवश्यक पोषक तत्त्व प्राचीन कथा में से जितनी मात्रा में मिल सके उतने अवश्य ही प्राप्त किये जाने चाहिये, परन्तु वीर रस के क्रूर या जीवनद्रोही आदर्शों में हम छिन्न न जायें। अगर जीवन में से वीरता चली गई तो वह धीमे धीमे सड़ने लगता है और अन्त में उस में एक भी सद्गुण नहीं टिकता, यह हमें नहीं भूलना चाहिये।

शान्तिप्रिय अहिंसापरायण, सर्वोदयकारी, समन्वयप्रेमी संस्कृति का वीर-रस तो त्याग के रूप में ही प्रकट होगा। आत्मविलोपन, आत्मदान ही जीवन की सच्ची वीरता है। इसके असंख्य भव्य प्रसङ्ग कला के वर्ण्य विषय हो सकते हैं। ये प्रसङ्ग कला को उन्नत करते हैं और प्रजा को जीवन-दीक्षा देते हैं। यदि भविष्य की कला इस दिशा की तरफ अग्रसर हुई तो निकट भविष्य में वह बहुत भारी तरक्की—असाधारण उन्नति—कर सकेगी, और समाज सेवा भी इसके हाथों अपने आप होगी।

एको रसः करुण एव

जब भवभूति ने 'रस एक ही है और वह करुण है और अनेक रूप धारण करता है' यह सिद्धान्त स्थिर किया तब उसने करुण शब्द को उतना ही व्यापक बनाया जितना कि कला शब्द है। जहां हृदय कोमल हो, उन्नत हो, सूक्ष्म हो या उदात्त हो, वहां कारुण्य की छटा आयेगी ही। कारुण्य की सम्भावना या समवेदना सार्वभौम होती है। इसके द्वारा हम विश्वात्मैक्य तक पहुँच सकते हैं। करुण रस ही रस-सम्राट् है, और यह आवश्यक नहीं है कि इस रस में शोक का भाव होना ही चाहिए। वात्सल्य-रस, शान्त-रस और उदात्त-रस, ये करुण के ही जुदे २ प्रकार हैं। बाकी अन्य सब रस, अन्त में जैसे सागर में

वृत्तियाँ मग्न होती हैं वैसे ही इन रसों में लीन हो जाते हैं। एक मित्र ने इन सब रसों के लिए "समाधि रस" का नाम सूचित किया, जो मुझे बहुत ठीक जँचा। पर इसमें शक है कि भाषा में यह सिक्का चल सकेगा या नहीं। सच पूछा जाय तो सब रसों का पर्यवसान शान्त में ही है। योग अर्थात् समाधि - समाधान अर्थात् एकता का भाव अन्त में सब में से यही वस्तु निकलेगा। यह योग ही कला का लक्ष्य और साधन है। दुर्भाग्य की बात है कि शान्त का यह व्यापक अर्थ आजकल की भाषा में स्वीकार नहीं किया जाता।

हमारे साहित्यकारों ने करुण-रस का बहुत सुन्दर विकास किया है। कालिदास का 'अज-विलाप' अथवा भवभूति का 'उत्तर रामचरित' करुण-रस के उत्तम से उत्तम नमूने माने जाते हैं। भवभूति जिस समय करुण-रस का राग छेड़ता है, उस समय पत्थर भी रोने लगता है और वज्र का हिया भी पिघल कर चूर २ हो जाता है। करुण-रस ही मनुष्य की मनुष्यता है। फिर भी यह उचित नहीं है कि करुण रस का उपयोग सिर्फ स्त्री-पुरुष के पारस्परिक विरह वर्णन में ही हो। माता का अपने बालक के लिए या किसी का अपने मित्र के लिए विलाप करने मात्र से भी करुण-रस का क्षेत्र सम्पूर्ण नहीं होता। अनन्तकाल से हर एक युग में और हर देश में, प्रत्येक समाज में किसी न किसी कारण महान् सामाजिक अन्याय होते आ रहे हैं। हजारों और लाखों लोग इस अन्याय के बलि हो रहे हैं। अज्ञान, दारिद्रय, उच्च-नीच-भाव, असमानता, मात्सर्य और द्वेष इत्यादि अनेक कारणों से और बिना कारण भी मनुष्य मनुष्य पर अत्याचार कर रहा है। उसे गुलाम बना रहा है, चूस रहा है और अपमानित कर रहा है। ये सभी प्रसङ्ग करुण-रस के स्वाभाविक क्षेत्र हैं।

पशु पक्षियों का या गाय भैंस का मानुषोचित दुःख क्वचित ही
किसी ने गाया है, ऐसा मन में विचार उठता भी नहीं है। बंगाल
के लोग विधवाओं के दुःखों का खूब वर्णन करने लगे हैं। करुण-रस
असर जितना होना चाहिए उतना नहीं हुआ। क्योंकि हृदय की
और हृदय-धर्म की पहचान अधूरी ही रही है और इसी से गांधी
जैसा व्यक्ति अस्पृश्यता के कारण अपने हृदय का क्षोभ प्रकट करता है
फिर भी समाज के हृदय पर उसका कोई असर नहीं पड़ता, करुण
में केवल हृदय का पिघलना ही पर्याप्त नहीं, हृदय में आग लगनी चाहि
और उससे जीवन में आमूल क्रान्ति हो जानी चाहिए।

हास्य-रस

ऊँचे दर्जे का हास्य-रस संस्कृत-साहित्य में बहुत ही कम पाया जाता है। उसमें जहां तहां नरम वचन और सुन्दर चाटूक्तियां तो दिखाई पड़ी हैं, और यह अपनी संस्कृति की विशेषता है। हालांकि अब हमारे साहित्य में भी हास्य-रस के अनेक सफल प्रयोग होने लगे हैं, फिर भी यही कहना पड़ता है कि नाटकों में पाया जाने वाला हास्य-रस अभी बहुत सस्ता और साधारण कोटि का है। हमारे व्यंग चित्रों में और प्रहसनों में पाया जाने वाला हास्य रस आज भी अधिकांश में निम्न श्रेणी का है।

अद्भुत का आविष्कार

अद्भुत का रूप ही ऐसा होता है कि उसके आगे कला का साधारण व्याकरण स्तम्भित हो जाता है। विजयनगर की आसपास की पहाड़ियों में बड़ी बड़ी शिलाओं के जो ढेर पड़े हुए हैं उनमें किसी तरह की व्यवस्था या अनुक्रम नहीं है। सरोवर का आकार, मेघों का विस्तार, नदी ... में कौन किसी तरह की व्यवस्था की अपेक्षा

रहता है कि भव्य वस्तु अपनी भव्यता द्वारा ही सर्वांगपूर्ण होती है। जो कुछ भी भव्य, विशाल, विस्तीर्ण, उदात्त, गम्भीर और गूढ़ है वह अनन्त का प्रतिबिम्ब है, और इसी लिये वह अपनी सत्ता में अत्यन्त मर्यादित है।

अद्भुत, रौद्र और भयानक

अद्भुत, रौद्र और भयानक इन तीनों रसों का उद्गम एक ही जगह से है। हृदय की भिन्न-भिन्न अनुभूतियों के कारण ही इनके जुदे जुदे नाम पड़े। जब शक्ति के आविर्भाव से हृदय दब जाता है, अपनी रक्षा में बैठता है, तब भयानक रस का निर्माण होता है। सिर पर लटकती हुई एक ऊँची चट्टान के नीचे हम खड़े हों तो उस समय हमारे मन में यह विश्वास तो रहता है कि यह शिलाराशि हमारे सिर पर गिरने वाली नहीं है, उलटे आँधी तूफान से ही हमारी रक्षा करेगी। इतना विश्वास होते हुए भी यदि यह कहीं गिर पड़े तो!—इतना ख्याल मन में आते ही हम दब जाते हैं। यह एक शक्ति का ही आविर्भाव है। पहाड़ जैसी ऊँची-ऊँची लहरों पर तैर कर सफर करने वाले जहाज में बैठे बैठे हम इस भाव का एक भिन्न रीति से अनुभव करते हैं।

मनुष्य भव्य वस्तु के साथ हमेशा अपना मुकाबिला करता ही रहता है। ऐसा करते करते जब वह थक जाता है तब इससे रौद्र रस प्रकट होता है और जहाँ भव्यता की नवीनता और उसका चमत्कार भुलाया नहीं जाता, वहाँ अद्भुत रस का परिचय मिलता है। ये तीनों रस मनुष्य की संवेदन-शक्ति के ऊपर निर्भर हैं। आकाश के अनन्त नक्षत्रों को देखकर जानवरों को कैसा लगता है, यह हम नहीं जानते। जब बच्चों को यह एक पालने के चँदोवे की तरह मालूम होता है तब

वही एक प्रौढ़ खगोल शास्त्री को नित्य नूतन और बढ़ते हुए अद्भुत रस का विश्वरूप दर्शन जैसा लगता है। अद्भुत रस की विशेषता यह है कि जिस तरह मेघ का गर्जन सुनकर सिंह को गर्जन करने की सूझती है, उसी तरह आर्य हृदय की भव्यता का दर्शन होने के साथ ही अपने विभूति भी उतनी ही विराट् भव्य करने की इच्छा होती है। अद्भुत रस में मनुष्य की आत्मा अपने को अद्भुतता से भिन्न नहीं मानती, पर एक अमुक रीति से इसमें वह अपना ही प्रादुर्भाव देखती है। रौद्र या भयानक में वह अपने को भिन्न मानती है। इन दोनों मनोवृत्तियों का जिसने अनुभव किया है, उसे कलाकार ने एकाएक घोषित किया है कि शिव और रुद्र एक ही हैं, शान्ता और दुर्गा एक ही हैं। जो महाकाली है वही महालक्ष्मी और महासरस्वती है। श्री रामचन्द्र जी का दर्शन होते ही हनुमान के भक्त हृदय ने स्वीकार कर लिया—

'देहबुद्ध्या तु दासोऽहम्
जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाऽहम्,
यथेच्छसि तथा कुरु॥'

इस अन्तिम चरण में जो सन्तोष और आत्म समर्पण है, वही कला के अन्त में शान्त रस है। रौद्र, भयानक और अद्भुत ये तीनों रस अन्त में जब तक शान्त रस में न मिल जायँ, जब तक हमारा समाधान न करें, तब तक कोई इन्हें रस कहेगा ही नहीं।

महाकवि कालिदास का चरित्र

(भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र)

राजा विक्रमादित्य की सभा में ९ रत्न थे। उनमें से एक कालिदास थे। कहते हैं कि लड़कपन में इन्होंने कुछ भी नहीं पढ़ा लिखा, केवल एक देवी के प्रसाद इन्हें यह अनमोल विद्या का धन हाथ लगा। इसकी कथा यों प्रसिद्ध है - शारदानन्द की लड़की विद्योत्तमा बड़ी पण्डिता थी। उसने यह प्रतिज्ञा की थी कि जो मुझे शास्त्रार्थ में जीतेगा, उसी को ब्याहूँगी। उस राजकुमारी के रूप-यौवन, विद्या की प्रशंसा सुन कर दूर दूर से पंडित आते, पर शास्त्रार्थ के समय उससे सब हार जाते थे। जब पण्डितों ने देखा कि यह लड़की किसी तरह वश में नहीं आती और सब को हरा देती है, तब मन में अत्यन्त लज्जित होकर सब ने एका किया कि किसी ढंग विद्योत्तमा का विवाह किसी ऐसे मूर्ख के साथ करावें, जिससे जन्म भर अपने घमंड पर पछताती रहे। निदान वे लोग मूर्ख की खोज में निकले। जाते जाते देखा, एक आदमी पेड़ के ऊपर जिस टहनी के ऊपर बैठा है, उसी को जड़ से काट रहा है। पंडितों ने उसे महामूर्ख समझ कर बड़ी आवभगत से नीचे बुलाया, और कहा कि चलो, हम तुम्हारा ब्याह राजा की लड़की से करा दें। पर खबरदार, राजा की सभा में मुँह से कुछ भी बात न कहना, जो बात करनी हो इशारों से बताना। निदान जब वह राजा की सभा में पहुँचा, जितने पंडित वहाँ बैठे थे, सब ने उठ कर उसकी पूजा की, ऊँची जगह बैठने को दी और विद्योत्तमा से यों निवेदन किया कि ये बृहस्पति के समान विद्वान्

हमारे गुरु आपको ब्याहने आये हैं। परन्तु इन्होंने तप के लिये मौ साधन किया है। जो कुछ आपको शास्त्रार्थ करना हो, इशारों से कीजिए निदान उस राजकुमारी ने इस आशय से कि ईश्वर एक है, एक उँग उठाई। मूर्ख ने यह समझ कर कि यह धमकाने के लिये उँगली दि कर एक आँख फोड़ देने का इशारा करती हैं, अपनी दो अंगुलि दिखलाईं। पंडितों ने उन दो अंगुलियों के ऐसे अर्थ निकाले कि राजकुमारी को हार माननी पड़ी और विवाह भी उसी समय हो गर रात के समय जब दोनों का एकान्त हुआ, किसी तरफ से ऊँट चिल्ला उठा। राजकन्या ने पूछा कि यह क्या शोर है। मूर्ख तो कोई भी शब्द शुद्ध नहीं बोल सकता था, कह उठा ऊँट चिल्लाता है; और जब राज-कुमारी से दुहरा कर पूछा, तब उष्ट्र की जगह उसट्र कहने लगा, पर शुद्ध उष्ट्र का उच्चारण न कर सका। तब तो विद्योत्तमा को पण्डितों की दगाबाजी मालूम हुई और अपने धोखा खाने पर पछता कर फूट फूट कर रोने लगी। वह मूर्ख भी अपने मन में बड़ा लज्जित हुआ। पहले तो चाहा कि जान ही दे डालूँ, पर फिर सोच समझ कर घर से निकल विद्या उपार्जन में परिश्रम करने लगा और थोड़े ही दिनों में ऐसा पण्डित हो गया, जिसका नाम आज तक चला आता है। जब यह मूर्ख पण्डित हो कर घर में आया तो जैसा आनन्द विद्योत्तमा के मन को हुआ, लिखने के बाहर है। सच है, परिश्रम से सब कुछ हो सकता है।

कालिदास के समय घटखर्पर, वररुचि आदि और भी कवि थे कालिदास ने काव्य नाटकादि अनेक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे हैं इनकी काव्य रचना बहुत सादी, मधुर और विषयानुसारिणी है अंगरेज लोग कालिदास को अपने शेक्सपियर से उपमा देते हैं।

कालिदास को आयुर्वेद आदि विद्याओं की बड़ी चाह थी और उसने अपने ग्रन्थ में इसका वर्णन किया है कि मनुष्य के शरीर पर ऐसे रोगों से क्या क्या असरकारी परिणाम होते हैं ।

कालिदास उज्जैन में रहता था, परन्तु उसकी जन्मभूमि काश्मीर थी । देशान्तर होने पर स्त्री के वियोग से जो जो दुःख उसने पाये, उनका वर्णन मेघदूत काव्य में लिखा है । कालिदास बड़ा चतुर पुरुष था । उसकी चतुराई की बहुत सी कहानियाँ हैं और वे सब मनोरंजक हैं जिनमें से कई एक ये हैं —

(१) भोज राजा को कविता पर बड़ी रुचि थी । जो कोई नया कवि उसके पास आता और कविता चातुर्य दिखलाता, उसको वह अच्छा पारितोषिक देता, और चाहता तो अपनी सभा में रख लेता था। इस प्रकार से यह कविमण्डल बहुत बढ़ गया। इसमें कई कवि तो ऐसे थे कि वे एक बार कोई नया श्लोक सुन लेते, तो उसे कण्ठ कर सकते थे । जब कोई मनुष्य राजा के पास आकर नया श्लोक सुनाता था, तो कहने लगते थे कि यह तो हमारा पहिले ही से जाना है और तुरन्त पढ़ कर सुना देते थे ।

एक दिन कालिदास के पास एक कवि ने आकर कहा कि महाराज, आप यदि मुझे राजा के पास ले चलें और कुछ धन दिला देवें तो मुझ पर आपका बड़ा उपकार होगा । जो मैं कोई नया श्लोक बनाकर राजसभा में सुनाऊँ तो उसका माना जाना कठिन है, इसलिये कोई युक्ति बताइये ।

कालिदास ने कहा कि तुम श्लोक में ऐसा कहो कि राजा से मुझको अपने रत्नों का हार लेना है और जो कुछ मैं कहता हूं सो यहाँ के कई पण्डितों को भी मालूम होगा । इस पर यदि पण्डित लोग कहें कि यह

श्लोक पुराना है तो तुमको श्लोकों का हार मिल जायगा, नहीं, तो श्लोक का अच्छा पारितोषक मिलेगा।

उस कवि ने कालिदास की बताई हुई युक्ति को मान कर वैसा ही श्लोक बनाया और जब उसको राजसभा में पढ़ा तो कवि मण्डल चुप हो रहा और उस कवि को बहुत सा धन मिला।

(२) एक समय कालिदास के पास एक मूढ़ ब्राह्मण आया और कहने लगा कि कविराज, मैं अति दरिद्र हूँ और मुझमें कोई गुण नहीं है। मुझ पर आप कुछ उपकार करें तो भला होगा।

कालिदास ने कहा, अच्छा हम एक दिन तुमको राजा के पास ले चलेंगे, आगे तुम्हारी प्रारब्ध। परन्तु रीति है कि जब राजा के दर्शन के निमित्त जाते हैं तो कुछ भेंट ले जाया करते हैं, इस लिये मैं जो साँटे के चार टुकड़े देता हूँ सो ले चल। ब्राह्मण घर लौटा और साँटे के टुकड़ों को उसने धोती में लपेट रक्खा। यह देख कर किसी ठग ने उसके बिना जाने उन टुकड़ों को निकाल लिया, और उसके बदले लकड़ी के उतने ही टुकड़े बाँध दिये।

राजा के दर्शन को चलने के समय ब्राह्मण ने साँटे के टुकड़ों को नहीं देखा। जब सभा में पहुँचा तब उस काठ को राजा को अर्पण किया। राजा उसको देखते ही बहुत क्रोधित हुआ। उस समय कालिदास पास ही था। उसने कहा महाराज, इस ब्राह्मण ने अपनी दरिद्ररूपी लकड़ी आपके पास लाकर रक्खी है। इस लिये कि उसको जलाकर इस ब्राह्मण को आप सुखी करें। यह बात कवि के मुख से सुनते ही राजा बहुत प्रसन्न हुआ, और उसने ब्राह्मण को बहुत सा धन दिया।

(३) एक समय राजा भोज कालिदास को साथ ले वनक्रीड़ा हेतु गये और घूमते घूमते थके माँदे हो; एक नदी के किनारे

न देखे। इस नदी में पत्थर बहुत हैं, उन पर पानी गिरने से बड़ा शब्द होता था। उस समय राजा ने कालिदास से विनोद करके पूछा कि कविराज, यह नदी क्यों रोती है?" कालिदास ने उत्तर दिया कि महाराज यह रोते ही वन में अपने मैके से ससुराल को जाती है।

कालिदास के प्रसिद्ध ग्रन्थ शकुन्तला, मालविकाग्निमित्र और मेघदूत हैं। शकुन्तला बहुत दर्शनीय ग्रन्थ है। इसका अनुवाद योरप की सब भाषाओं में हो गया है।

एक समय कविवर कालिदास अपने मकान में बैठ कर अपने मित्र पुत्र को अध्ययन कराता था। उसी समय क्षत्रिय-कुल-भूषण विक्रमादित्य संयोग से आ गये। कविवर कालिदास ने महाराज को देख कर मित्र पुत्र का पढ़ाना छोड़ कर शिष्टाचार की रीति से महाराज का आदर मान किया। जब क्षत्रिय कुल-भूषण महाराज विक्रमादित्य ने पढ़ाने की प्रार्थना की तब फिर अध्ययन कराना प्रारम्भ किया। उस समय कविवर कालिदास अपने मित्र पुत्र को यही पढ़ाता था कि राजा अपने ही देश में मान पाता है और विद्वान् का मान सब स्थानों में होता है। महाराज इस प्रकार की शिक्षा सुन अपने मन में कुतर्क करने लगे कि कविवर कालिदास ऐसा अभिमानी पण्डित है कि मेरे ही सामने पंडितों की बड़ाई करता है और राजाओं की, धनवानों की व तुच्छे नीचा दिखाता है। मैं पंडितों का विशेष आदर मान करता हूँ; और जो मेरे या अन्य राजाओं या धनवानों के यहाँ पण्डितों का आदर नहीं हो तो कहाँ हो सकता है। ऐसा कुतर्क करते हुए राजा अपने घर गये। महाराज विक्रमादित्य ने कविवर कालिदास को जो धन सम्पत्ति दी थी उसको हर लेने के लिये मंत्री को आज्ञा दी। मंत्री ने वैसा ही किया जैसा महाराज ने कहा था। कविवर कालिदास

की जीविका जब हर ली गई तब दुखी होकर, वह अपने बाल बच्चे साथ अनेक देशों में भटकता हुआ अन्त में करनाटक देश में पहुँचा। करनाटक देशाधिपति बड़ा पण्डित और गुणग्राहक था। उसके पास जाकर कविवर कालिदास ने अपनी कविता-शक्ति दिखलाई। इस करनाटक-देशाधिपति ने अतिप्रसन्न होकर बहुत सा धन और भूमि दे कर उसको अपने राज्य में रक्खा। कविवर कालिदास राजा से सम्मान पाकर उस देश में रह कर प्रति दिन राज-सभा में जाने और राजा के सिंहासन के पास ऊँचे आसन पर बैठ सब राज-काजों में उत्तम सम्मति देने लगा और अनेक प्रकार की कविताओं से सभासदों के मन की कली खिलाता हुआ सुख से रहने लगा। जब से कविवर कालिदास ने विक्रमादित्य ने छोड़ा तब से वे बड़े शोक सागर में डूबे थे। धनरत्नों में कविवर कालिदास ही अनमोल रत्न था। इसके सिवाय जब राजा को राजकाज के कामों से फुरसत मिलती थी तब केवल कविवर कालिदास की ही अद्भुत कविताओं को सुनकर उनका मन प्रफुल्लित होता था। इसलिये ऐसे गुणी मनुष्य के बिना राजा का मन सब वस्तुओं से उदास रहने लगा। फिर राजा ने कविराज कालिदास का पता लगाने के लिये सब देशों में दूतों को भेजा। जब कहीं पता न लगा तब राजा आप ही भेष बदल कर खोजने के लिये निकले। कई देशों में घूमते फिरते जब वे करनाटक देश में गये तो उस समय उनके पास मार्ग व्यय के लिये एक हीरा जड़ी हुई अँगूठी को छोड़ और कुछ नहीं था उस अँगूठी को बेचने के लिये वे किसी जौहरी की दुकान पर गये रत्न-पारखी ने ऐसे दरिद्र के हाथ में ऐसी रत्न जड़ित अँगूठी को देख कर मन में उसे चोर समझा और कोतवाल के पास भेजा। कोतवाल राजसभा में ले गया। चारों ओर देखते-भालते जो आगे बढ़े तो

नित्यकर्म

(पंडित प्रतापनारायण मिश्र)

सवेरे उठ कर रात को सो रहने के समय तक प्रायः जो काम प्रति दिन सब को करने पड़ते हैं, वे नित्यकर्म कहलाते हैं। सोना, जागना, उठना, बैठना, खाना, पीना, चलना और फिरना इत्यादि नित्यकर्म हैं। इन्हें सभी लोग सदा ही करते रहते हैं और देखते हैं कि इनके बनने बिगड़ने से कोई विशेष लाभ अथवा हानि भी बहुधा नहीं होती। इस से साधारण लोग इन पर विशेष ध्यान नहीं रखते, क्योंकि वे इन्हें साधारण या छोटे काम समझते हैं। पर विचार कर देखिए तो हमारे जीवन का अधिकांश इन्हीं पर निर्भर है। बड़े २ काम तो कभी ही कभी किसी ही किसी को करने पड़ते हैं। अतः इन नित्य के कामों को तुच्छ समझ कर इनकी उपेक्षा करना बुद्धिमानी से दूर है। अनुभवशील सज्जनों का सिद्धान्त है कि जो पुरुष छोटे-छोटे साधारण-साधारण कार्यों को सावधानी और उत्तमता से करते रहने का अभ्यास रखता है, वही काम पड़ने पर बड़े २ कामों को उत्तम रीति से निबाह सकता है, नहीं तो नित्य के आहार-विहारादि का नियम ठीक न रहने से शरीर का बल घट जाता है, काम करने का अभ्यास जाता रहता है और बुद्धि की तीव्रता का ह्रास हो जाता है। इसी से जब कोई नया और कठिन काम करना पड़ता है तो जी ऐसा घबराने लगता है, मानो किसी ने सिर पर पहाड़ ला के रख दिया। एवं ऐसी दशा में यदि ज्यों त्यों कर पूरा भी हो गया तो उत्साह के साथ होना सम्भव नहीं, क्योंकि हमारा जीवन सृष्टिकर्ता ने एक भवन के समान बनाया है। जैसे भवन के सुन्दर

[illegible] इत्यादि
[illegible] हैं, वैसे ही हमारे जीवन के बहुत से काम इसी नियम के
[illegible] इसी के द्वारा संचालित होते हैं।
[illegible]
[illegible] है। इसी प्रकार यदि हमारे नित्य के व्यवहार
[illegible] कार्यों का यथोचित रीति
[illegible] चाहिये। इसलिये जो लोग अपने
[illegible] चाहते हैं कि [illegible] करने पर
[illegible] उचित है कि अपने प्रत्येक काम पर [illegible] ध्यान रक्खें
। जो [illegible] विचार के बाद [illegible] यथासाध्य
[illegible] न होने पावें जो बुद्धिमान के [illegible] हुये नियमों
विरुद्ध हों। वे नियम [illegible] के लिये नीचे हैं।
स्मरण दिलाने की भाँति हम यहाँ पर संक्षेप में लिख देना उचित
समझते हैं।

सोकर उस समय उठना चाहिये जब घंटा डेढ़ घंटा रात्रि शेष रहे,
और उठते ही काम के लिये न दौड़ना चाहिए, किन्तु दस-पाँच मिनट
तक के आलस्य को निवारण कर जाना उचित है। फिर हाथ मुँह
की भाँति धो के नीम, करंज अथवा बबूल की दातून से मुख शुद्ध
कर के यदि शीत अधिक न हो तो उसी समय दो-चार मिनट के
पश्चात् स्नान भी कर लेना उचित है। नहीं तो नौ दस बजे के लगभग
स्नान कर लेना भी दूषित नहीं है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए
कि नहाने के लिए घर के कुएँ की अपेक्षा गंगा, यमुना आदि बड़ी नदियां
प्रशंसनीय हैं, पर यदि इनका मिलना कठिन हो तो कुएँ के जल से ही,
पर हो ताजा और मीठा हो। जाड़े के दिनों में गरम पानी से नहाना भी
बुरा नहीं है, पर इतना गरम न होना चाहिए कि सहा न जाय, नहीं

तो मस्तिष्क और नेत्र को बड़ा हानिकारक होता है। स्नान के आधे
घंटा पहिले तिली, नारियल अथवा सरसों का तेल शिर और शरीर
में लगाना बड़ा गुणकारक है। तथा सुगन्धित साबुन भी यदि मिल
सके तो नित्य नहीं, दूसरे चौथे दिन अवश्य लगाना चाहिए, एवं
नहाना भी बहुत जल से भली भांति शिर से उचित है। तदनन्तर
स्वच्छ अथच कोमल वस्त्र से देह अच्छे प्रकार पोंछ के यदि अपनी
जाति और समाज मे चाल हो तो श्वेत चन्दन (जाड़े में केशर-युक्त)
अथवा भस्म बहुत सी मस्तक और वक्षःस्थल आदि पर लगाना आरोग्य
वर्द्धक है। ये काम सूर्योदय के लगभग पूरे कर के नगर के बाहर मैदान
या वाटिका की स्वच्छ वायु-सेवन के लिए निकल जाना चाहिए। नीरोग
रहने के निमित्त यह यत्न बहुत ही उत्तम है। सद्वैद्यों का विचार
कि प्रातःकाल की पवन स्वर्गीय पवन है। इसके द्वारा जीवधारियों
तन और मन प्रफुल्लित होते हैं। इसके अतिरिक्त स्नान करने के उपरान्त
अथवा दो-तीन घंटा पहिले व्यायाम भी कर्तव्य है, पर इतना ही मा
जितने मे बहुत थकावट न जान पड़े। अनुभवी लोगों का वचन है
कम से कम पाँच और अधिक से अधिक चालीस तक डंड, मुग
बैठक करना चाहिए और इसके उपरान्त जब तक भली भांति थका
दूर न हो जाय कुछ भी खाना पीना उचित नहीं है। केवल स्वच्छ
वायु में दौड़ते व टहलते रहना चाहिए। इस अवसर पर यदि अच्छ
चिकनी सुगंधित मिट्टी लोटने को मिले तो अत्युत्तम है। इसके अनन्त
भोजन का समय है। एक सात-आठ बजे कुछ थोड़ा सा दूध अथ
मिठाई आदि खाना चाहिए। फिर दस बजे से बारह बजे तक दाल-रोट
पूरी, तरकारी आदि, पुनः तीन चार बजे थोड़ा ही सा फल, फलहरी
मिठाई आदि और फिर सोने से डेढ़ घण्टा पहिले दाल रोटी आदि
खाने-पीने में इतना विचार अवश्य रखना चाहिए कि खाद्य पदार्थ श

ओढ़ने बिछाने आदि के कपड़े; खाने-पीने आदि के बरतन सर्वा
स्वच्छ रहें। इनमें किसी घृणाकारक और दुर्गन्ध प्रसारक पदार्थ क
संपर्क न होने पावे, वरञ्च जिधर ऐसी वस्तुओं की सम्भावना हो
उधर जाना भी उचित नहीं है, बस दिन के काम यही हैं। अब रहे
रात्रि के कर्तव्य। उनका नियम यों है कि सन्ध्या समय से अर्था
सूर्यास्त के कुछ पहले से पढ़ना लिखना या पड़े बैठे रहने का स्वभाव
छोड़ देना चाहिए। नगर के बाहर या ऐसे स्थान पर चले जाना उचि
है जहाँ के प्राकृतिक दृश्य मन को, नयन को सुख देते हों, वहाँ
दौड़ना, उछलना, गाना आदि बलकारक एवं प्रमोदविस्तारक कर्म भी
अवश्य करना चाहिए। इससे तन और मन में फुर्ती आती है। फि
वहाँ से लौट कर श्रम की निवृत्ति के उपरान्त भोजन करके नौ दस
बजे तक सो रहना चाहिए। सोने के कुछ ही पहले दो-चार भूनी ह
लौंग के साथ खाना अथवा दूध पीना भी आवश्यक है और इस बा
की तो बड़ी ही भारी आवश्यकता है कि दिन भर के कामों का स्मरण
करके यह विचार किया जाय कि कौन काम अच्छा बन पड़ा है, कौ
बुरा तथा कल से किस-किस काम को छोड़ देने और किस-किस
विशेष यत्न से करने में कटिबद्ध रहना चाहिए। रात्रि को पढ़ना-लिखन
नेत्रों के लिए हानिकारक है, पर यदि बड़ी ही आवश्यकता हो
सरसों अथवा अरंड के तेल की उजियाली में पढ़-लिख लें, कि
उतने ही काल तक जितने में आँखों में झिलमिलाहट न आवे। यों
सोते से उठ कर जल पीना भी दूषित है। पर यदि बहुत ही प्यास
तो नाक के निःश्वास को रोक कर थोड़ा सा पी लें। किन्तु यह स्मरण र
कि ऐसा काम करना महानिषिद्ध है, जिसके कारण नींद, भूख
प्यास आदि नित्य की अपेक्षा अधिक सतावें या इनके रोकने
आवश्यकता पड़े, क्योंकि प्रकृति के किसी वेग को रोकना ही स

माता का स्नेह

(पण्डित बालकृष्ण भट्ट)

वात्सल्य रस की शुद्ध मूर्ति माता के सदृश स्नेह की तुलना इस जगत् में, जहां केवल अपना स्वार्थ ही प्रधान है, कहीं ढूंढ़ने से भी न पाइयेगा। सच है—

"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।"

मातृस्थानापन्न दादी, दादा, चाची, चाचा, ताऊ आदि का स्नेह बहुधा औचित्य-विचार और मर्यादा-परिपालन के ध्यान से देखा जाता है। किन्तु माता तथा पिता का स्नेह पुत्र मे निरे वात्सल्य-भाव के मूल पर है। अब इन दोनों में भी विशेष आदरणीय, सच्चा और निःस्वार्थ प्रेम किसका है? इसकी समालोचना आज हमारे इस लेख का मुख्य उद्देश्य है।

लोग कहते हैं, लाड़-प्यार से लड़के बिगड़ते हैं, पर सूक्ष्म विचार से देखिये तो बालकों में हर एक अच्छी बातों का अंकुर गुन रीति से प्यार ही से जमता है। विलायत के एक चतुर चितेरे ने लिखा है कि 'मेरी माँ के एक बार चूम लेने ने मुझे चित्रकारी में प्रवीण कर दिया।" गुरु और उस्ताद हमें पाठशाला में भय और ताड़न दिखला कर जितना वर्षों मे सिखला सकते हैं, उतना अपने घर में हम सुत-वत्सला माँ के अकृत्रिम सहज स्नेह से एक दिन में सीख लेते हैं। *मां के स्वाभाविक, सच्चे और बे-बनावटी प्रेम का प्रमाण इससे बढ़ कर और क्या मिल सकता है कि लड़का कितना ही रोता हो या*

पुराणों में ऐसी अनेक कथायें मिलती हैं, जिनमें मा
वात्सल्य टपक रहा है। माँ का एक बार का प्रोत्सा
पुत्र के लिये जैसा उपकारी और उसके चित्त मे असर पैदा
वाला होता है, पिता की सौ बार की नसीहत और ताड़ना भी
नहीं होती। सौतेली मां, सुरुचि के वचपात सदृश वाक्‌प्र
ताड़ित और पिता की अवज्ञा और निरादर से अत्यन्त सन्
ध्रुव को, जब वह केवल पांच ही वर्ष के बालक थे, सुनीता देवी
एक बार का प्रोत्साहन उस ध्रुवपद की प्राप्ति का हेतु हुआ, जि
समान उच्च और स्थिर पद आज तक किसी को मिला ही नहीं।
का स्नेह बदला चुकाने की इच्छा से होता है। वह पुत्र को इसी
पालता, पोसता और पढ़ाता लिखाता है कि बुढ़ापे में वह हमारे
आवेगा तथा जब हम सब भांति अपाहिज और अपन्न हो जायें
हमारी सेवा करेगा और हमारे अन्न वस्त्र की फिक्र करेगा। प
का पहार और अकृत्रिम प्रेम इन सब बातों की इच्छा कभी
रखता। मां अपनी सन्तान के लिये कितना कष्ट सहती है,
याद कर चित्त में वात्सल्य भाव का उद्‌गार हो आता है। मां
पिता के समान प्रत्युपकार की वासना भी नहीं है, दया मानो देह
सामने आकर खड़ी हो जाती है। टूटी फूस की मढ़ी मे मूसल
अखण्डधार पानी बरस रहा है और फूस का ठाठ सब ओर
ऐसा टपकता है कि कहीं बीता भर जगह बची नहीं है
ने गरीबी के कारण इतना कपड़ा लत्ता पास है कि आप
ओढ़े और प्रिय सन्तान को ढांप कर वृष्टि के भयङ्कर उत्पात से बच
लेकिन फिर भी माता आधी ही धोती ओढ़े हुए है। आधी से
ने दुधमुंहे बालक को ढांपे उसको छाती से लगाये हुये है।
। और देह की इसे तनिक भी चिन्ता नहीं है, किन्तु बात और

हैं। इससे सिद्ध हुआ, जननी केवल जन्मदात्री ही नहीं है, और सरस स्नेह प्रमचित्र भी वही है। प्रेम को तीन तरह गया है। एक तो वे लोग हैं जो प्रेम करने पर प्रेम करते हैं। वे जो तुम चाहे प्रेम करो या न करो वे तुम से प्रेम करते हैं। जो ऐसे क्रूर हैं कि उनसे कितना ही प्रेम करो तो भी वे ... जो परस्पर प्रेम करते हैं, उनका भाव तो एक प्रकार का ... स्वच्छ स्नेह उसे न कहेंगे। काम पड़ने पर मित्र शत्रु ही बना ... उनमें सौहार्द धर्ममूलक नहीं है। दोनों परस्पर स्वार्थी हैं। जब ... हुआ तो कुछ कपट उसमें अवश्य ही रहेगा। कपट का मन में ले... आया कि स्वच्छ स्नेह की जड़ कट गई। जिसमें केवल ... धर्म हो, जो स्वच्छ स्नेह को दर्पण के समान प्रकाश कर देने ... तथा जिसमें बदला पाने की कहीं गंध न हो, यह वही स्नेह है ... के मानों साक्षात् स्वरूप मां में पुत्र के लिये होता है। इस प्रका... रूपी मोती की तारीफ में पेज पर पेज रंगते जायँ तो भी हम ... तक नहीं पहुँच सकते।

(साहित्य सु...

भगवान् श्रीकृष्ण

(पं० पद्मसिंह शर्मा)

पांच हजार वर्ष बीते भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द इस भूतल पर अवतीर्ण हुए थे। जन्माष्टमी का शुभ पर्व प्रतिवर्ष हमें इस चिरस्मरणीय घटना की याद दिलाता है। आर्य जाति बड़ी श्रद्धाभक्ति से इस पावन पर्व को मनाती है। विश्व की उस अलौकिक विभूति के गुण कीर्तन से करोड़ों आर्यजन अपने हृदयों को पवित्र बनाते हैं। अपनी वर्तमान अधोगति में, निराशा के इस भयानक अन्धकार में, उस दिव्य ज्योति को ध्यान की दृष्टि से देख कर सन्तोष लाभ करते हैं। आज दुःखदावानल से दग्ध भारतभूमि घनश्याम की अमृत वर्षा की बाट जोहती है। दुःशासननिपीड़ित प्रजा द्रौपदी रक्षा के लिये द्वार द्वार में पुकारती है। धर्म अपनी दुर्गति पर सिर धुनता हुआ 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति' की याद दिलाकर प्रतिज्ञा-भंग की नालिश कर रहा है। जाति-जननी अत्याचार कंस के कठोर कारागार में पड़ी दिन काट रही है। गौएँ अपने गोपाल की याद में प्राण दे रही हैं, जान गँवा रही हैं। इस प्रकार भगवान् के जन्म दिन का शुभ अवसर भी हमें अपनी मौत का मर्सिया ही सुनाने को मजबूर कर रहा है, आनन्द बधाई के दिन भी हम अपना ही दुखड़ा रो रहे हैं, विधि की विडम्बना से प्रभाती के समय विहाग अलापना पड़ रहा है। संसार की अनेक जातियाँ कुछ और प्रायः कल्पित आदर्शों के सहारे उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो गई हैं, और हो रही हैं। उत्तम आदर्श उन्नति का प्रधान अवलम्ब है। अवनति के गर्त में पतित

जाति के लिए तो आदर्श ही उद्धार-रज्जु हैं। आर्य जाति के लि
आदर्शों के अभाव नहीं है। सब प्रकार के, एक से एक बढ़ कर, आ
सामने हैं। संसार की अन्य किसी जाति ने इतने आदर्श नहीं पाये।

भगवान् श्रीकृष्ण संसार भर के आदर्शों में सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण आद
हैं। इसी कारण हिन्दू उन्हें सोलह कलासम्पूर्ण अवतार—'कृष्ण
भगवान् स्वयम्'—मानते हैं। अवतार न मानने वाले भी उन्हें आद
योगीराज, कर्मयोगी, सर्वश्रेष्ठ महापुरुष कहते हैं। मनुष्य जीवन
सार्थक बनाने के लिये जो आदर्श अपेक्षित हैं वह स्पष्ट रूप में प्र
परिमाण में श्री कृष्णचरित में विद्यमान हैं। ध्यानी, ज्ञानी, योग
कर्मयोगी, नीति-धुरन्धर, नेता और महारथी योद्धा। जिस भी दृष्टि
देखिये, जिस भी कसौटी पर कसिये, श्री कृष्ण अद्वितीय ही प्रत
होंगे। संस्कृत भाषा का साहित्य कृष्णचरित की महिमा से भरा प
है। पर दुर्भाग्य से हम उस तत्त्व को हृदयङ्गम नहीं करते। हम
'आदर्श' का अनुकरण करना नहीं चाहते, उलटा उसे अपने पीछे
घसीटना चाहते हैं और यही हमारी अधोगति का कारण है। यदि
हम कर्मयोगी भगवान् कृष्ण के आदर्श का अनुसरण करते तो आज
इस दयनीय दशा में न होते। महाभारत के श्री कृष्ण को भूल कर 'गीत-
गोविन्द' के कृष्ण का काल्पनिक चित्र निर्माण करके उस आदर्श
महापुरुष को 'चोरजारशिखामणि' की उपाधि दे डाली है। पतन की
पराकाष्ठा है! कृष्णचरित्र के सर्वश्रेष्ठ लेखक श्री बंकिमचन्द्र ने एक
जगह खिन्न होकर लिखा है—

"जब से हम हिन्दू अपने आदर्शों को भूल गये और हमने कृष्ण
चरित्र को अवनत कर लिया तब से हमारी सामाजिक अवनति होने
लगी, 'गीतगोविन्द'-निर्माता जयदेव के कृष्ण की नक़ल करने में सब

ने पर 'महाभारत' के कृष्ण की कोई बात भी नहीं ठहरता।"

श्रीकृष्ण को हिन्दू-जाति क्या समझ बैठी है, उसका उल्लेख श्री …न ने इस प्रकार किया है—

"अब प्रश्न यह है कि भगवान् को हम लोग क्या समझते हैं। यही कि वह बचपन में चोर थे। दूध-दही मक्खन चुराकर खाया करते थे। युवावस्था में व्यभिचारी थे और उन्होंने पराई गोपियों के पातिव्रत धर्म को नष्ट किया; प्रौढ़ावस्था में वंचक और शठ थे। उन्होंने धोखा देकर द्रोणादि के प्राण लिये। क्या इसी का नाम मानव-चरित्र है? जो केवल शुद्ध सत्त्व है, जिससे सब प्रकार की शुद्धियां होती और मल दूर होते हैं, उसका मनुष्य देह धारण कर समस्त पापाचरण करना क्या भगवल्लीला है?

"सनातन-धर्मद्वेषी कहा करते हैं कि भगवच्चरित्र की ऐसी कल्पना करने ही के कारण भारतवर्ष में पाप का स्रोत बह गया है। इसका प्रतिवाद कर किसी को कभी जय प्राप्त करते नहीं देखा है। मैं श्रीकृष्ण को स्वयं भगवान् मानता हूँ और उस पर विश्वास करता हूँ। अँग्रेजी शिक्षा से मेरा यह विश्वास और दृढ़ हो गया है। पुराणों और इतिहास में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चरित्र का वास्तव में कैसा वर्णन है, यह जानने के लिये मैंने जहां तक बना इतिहास और पुराणों का मन्थन किया। इसका फल यह हुआ कि श्रीकृष्णचन्द्र के विषय में जो पाप-कथाएं प्रचलित हैं वे अमूलक जान पड़ीं। उपन्यासकारों ने श्रीकृष्ण के विषय में जो मनगढ़न्त बातें लिखी हैं, उन्हें निकाल देने पर जो कुछ बचता है वह अति विशुद्ध, परम पवित्र, अतिशय महान् मालूम हुआ है। मुझे यह भी मालूम हो गया है कि ऐसा सर्वगुणान्वित और सर्वपापरहित आदर्श चरित्र और कहीं नहीं है। किसी देश के इतिहास में और न किसी काव्य में।

श्रीकृष्ण चरित का मनन करने वालों को श्री बंकिम चन्द्र की सम्मतियों पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये। भगवान् के चरित्र के रहस्य को अच्छी तरह समझ कर उसके आधार पर यदि हम अपने जाति-जीवन का निर्माण करें तो सारे संकट दूर हो जायं। उदाहरण के तौर पर नेताओं को लीजिये। आज कल हमारे देश में नेताओं की बाढ़ आई हुई है। जिसे देखिये वही 'सार्वभौम नेता' नहीं तो 'आल इन्डिया लीडर' है। इस बाढ़ को देख कर चिन्ता के स्वर में कहना पड़ता है—

> 'लीडरों की धूम है और फालोअर कोई नहीं।
> सब तो जनरल हैं यहाँ आखिर सिपाही कौन है ?'

पर उनमें कितने हैं जिन्होंने आदर्श नेता श्रीकृष्ण नेतृ चरित्र से शिक्षा ग्रहण की है ? नेता नितान्त निर्भय, परम निस्पृह और विचारों का शुद्ध होना चाहिये, ऐसा कि संसार की कोई विपत्ति या प्रलोभन उसे किसी दशा में भी अपने प्रन से विचलित न कर सके।

महाभारत के युद्ध की पूरी तय्यारियाँ हो चुकी हैं। सन्धि के सब प्रयत्न निष्फल हो चुके हैं। धर्मराज युधिष्ठिर का सदय हृदय युद्ध के अवश्यम्भावी दुष्परिणाम को सोच कर विचलित हो रहा है। इस दशा में भी वह सन्धि के लिये व्याकुल हैं। बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित है। श्रीकृष्ण स्वयं सन्धि के पक्ष में थे। सन्धि के प्रश्न को लेकर उन्होंने स्वयं ही दूत बन कर जाना उचित समझा। दुर्योधन जैसे स्वार्थान्ध कपट-कुशल और जीते जुआरी के दरबार में ऐसे अवसर पर दूत बन कर जाना, जान से हाथ धोना, दहकती हुई आग में कूदना था। श्रीकृष्ण के दूत बन कर जाने के प्रस्ताव पर सहसा कोई सहमत न हुआ। दुर्योधन की कुटिलता और क्रूरता के विचार में

पाण्डवों की निर्दोषता और दुर्योधन का अन्याय प्रमाणित किया
दुर्योधन किसी तरह न माना। श्रीकृष्ण उसे फटकार कर चलने लगे
दुर्योधन ने भोजन के लिये आग्रह किया। इस पर जो उचित उ
भगवान् श्रीकृष्ण ने दिया वह उन्हीं के योग्य था। कहा—

"संप्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च संप्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम् ॥"

अर्थात् या तो प्रीति के कारण किसी के यहाँ भोजन किया जाता
या फिर विपत्ति में—दुर्भिक्षादि संकट में। तुम हम से प्रेम नहीं
और हम पर कोई ऐसी आपत्ति नहीं आई है, ऐसी दशा में तुम्
भोजन कैसे स्वीकार करें ?

इस प्रत्याख्यान से क्रुद्ध हो कर दुर्योधन ने उन्हें घेर कर पक
चाहा, पर भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक तेज और दिव्य पराक्रम
उसे पराभ्त कर दिया। वह अपनी धृष्टता पर लज्जित होकर रह गय

हमारे लीडर लोग भगवान् के इस आचरण से शिक्षा ग्रहण
तो उनका और लोक का कल्याण हो।

पांडव और कौरव दोनों ही श्रीकृष्ण के सम्बन्धी थे। दोनों
उन्हें अपने पक्ष में लाने के लिए समानरूप से प्रयत्न-शील थे। आ
मंत्र के तत्त्व से भी भगवान अनभिज्ञ न थे। पर उन्होंने आज
के अमानतमार लीडरों की तरह सर्व प्रियता या हरदिलअजीजी
फँसकर अपने करेक्टर को दाग नहीं लगाया। मेलमिलाप की
माया में भूल कर न्याय को अन्याय और धर्म को अधर्म नहीं बताय
निष्पक्ष की ठेकेदारी बता कर अपनी समदर्शिता या उदारता
परिचय नहीं दिया। श्रीकृष्ण अपने सालों का मोह छोड़कर दुर्यो
के मनमाने गर्व और भयानक संकट के भय से भी कर्तव्य-पराङ्मु

न हुए। एक आजकल के लीडर हैं: किसी दुर्घटना को रोकने के लिए तार पर तार दिये जाते हैं। पधारने की प्रार्थना की जाती है, पर 'हमारी कोई नहीं सुनता' कह कर टाल जाते हैं। पहुँचते भी हैं तो उस वक्त जब मार काट हो चुकती है। तो भी सरकारी तहक़ीक़ात के बहाने लीपा-पोती के लिये लेक्चर देना और तहक़ीक़ात के लिये पहुँच जाना, लीडरों के लिये इतना ही काफ़ी है। गोली तीन क़दम तो बन्दा तीस क़दम।

श्री कृष्ण ने अपने सगे सम्बन्धी, पर अन्यायी, दुर्योधन का निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया और एक ये आजकल के लीडर हैं जो हर कहीं निमन्त्रण पाने के प्रयत्न में रहते हैं। आज अपमानित होकर असहयोग की घोषणा करते हैं, कल उड़ती चिड़िया के द्वारा निमन्त्रण पाकर सहयोग करने दौड़ते हैं! इन्हें ही लक्ष्य करके कवि ने कहा है:—

'क़ौम के ग़म में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ।
रंज लीडर को बहुत है मगर आराम के साथ।'

निःसन्देह सभी लीडर ऐसे नहीं हैं, कुछ इसका अपवाद भी हो सकते हैं।

हमारे इस युग के लीडरों में तिलक महाराज ने श्रीकृष्ण चरित्र के तत्त्व को सबसे अधिक समझा था और उनकी दृढ़ता और तेजस्विता का यही कारण था। महाभारत का भगवच्चरित्र उन के मन की सब से प्रिय वस्तु थी। मालवीय जी महाराज और श्री लाला लाजपत राए जी श्रीकृष्ण के अनुयायी भक्तों की श्रेणी में हैं।

आर्य जाति के लीडर और शिक्षित युवक श्रीकृष्ण चरित्र को अपना आदर्श मान कर यदि अपने चरित्र का निर्माण करें तो देश और जाति का उद्धार करने में समर्थ हो सकेंगे। परमात्मा ऐसा ही करे।

[पद्म-पराग]

महाकवि माघ का प्रभात-वर्णन

(पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी)

रात अब बहुत ही थोड़ी रह गई है। सुबह होने में कुछ ही क्ष
है। जरा सप्तर्षि नाम के तारों को तो देखिए। वे आसमान
लम्बे पड़े हुए हैं। उनका पिछला भाग तो नीचे को झुका सा है
अगला ऊपर को। यहीं, उनके अधोभाग में, छोटा सा ध्रुव-तारा
कुछ चमक रहा है। सप्तर्षियों का आकार गाड़ी के सदृश है—ऐसी गा
के सदृश जिसका जुआँ ऊपर को उठ गया हो। इसी से उनके
ध्रुवतारा के सादृश्य को देख कर श्रीकृष्ण के बालपन की एक घटना
आ जाती है। शिशु श्रीकृष्ण को मारने के लिये एक बार गाड़ी का
बनाकर शकटासुर नाम का एक दानव उनके पास आया। श्रीकृष्ण
पालने में पड़े देखते देखते उसे एक लात मार दी। उसके आघात से
उसका अग्रभाग ऊपर को उठ गया और पश्चाद्भाग खड़ा ही रह गया।
श्रीकृष्ण उसके तले आ गये। यही दृश्य इस समय सप्तर्षियों की
अवस्थिति का है। वे तो कुछ उठे हुए-से लम्बे पड़े हैं, छोटा सा ध्रु
उनके नीचे चमक रहा है।

पूर्व दिशारूपिणी स्त्री की प्रभा इस समय बहुत ही भली मालूम
होती है। वह हँस-सी रही है। चन्द्रमा अपने ही रङ्ग में मस्त मालूम
होता है। अस्त मलय होने के कारण उसका बिंब तो लाल है, पर किरणें
उसकी पुरानी कमल की नाल के कटे हुए टुकड़ों के समान सफेद हैं।
स्वयं सफेद होकर भी बिम्ब की अरुणता के कारण वह कुछ-कुछ लाल
सी है। कुंकुम मिश्रित सफेद चन्दन के सदृश उन्हीं लालिमा मिली हुई

ऊपर से उसे खींच रही हैं ! सूर्य की किरणों ही को आप लम्बी लम्बी मोटी रस्सियाँ समझिये। उन्हीं से उन्होंने बिम्ब को बाँध सा दिया है और खींचते वक्त, पक्षियों के कलरव के बहाने, वे यह कह-कह कर शोर मचा रही हैं, कि खींच लिया है, कुछ ही बाक़ी है, ऊपर आने ही वाला है, ज़रा और ज़ोर लगाना।

दिगंगनाओं के द्वारा खींच-खींच कर किसी तरह सागर की सलिलराशि से बाहर निकाले जाने पर सूर्य-बिंब चम-चमाता हुआ लाल-लाल दिखाई दिया। अच्छा, बताइए तो सही, यह इस तरह का क्यों है। हमारी समझ में तो यह आता है कि सारी रात पयोनिधि के पानी के भीतर जब यह पड़ा था तब बडवाग्नि की ज्वाला ने इसे तपा कर खूब दहकाया होगा। तभी तो खैर खदिर के जले हुए कुन्दे के अंगार के सदृश, लालिमा लिये हुए यह इतना शुभ्र दिखाई दे रहा है। अन्यथा इसके इतने अंगार-गौर होने का और क्या कारण हो सकता है ?

सूर्य-देव की उदारता और न्यायशीलता तारीफ़ के लायक है। तरफ़दारी से उसे छू तक नहीं गई पक्षपात की तो गन्ध तक उसमें नहीं। देखिए न, उदय तो उसका उदयाचल पर हुआ, पर क्षण ही भर में उसने अपने नये किरण-कलाप को उसी पर्वत के शिखर पर नहीं, किन्तु सभी पर्वतों के शिखरों पर फैलाकर उन सब की शोभा बढ़ा दी। उसकी इस उदारता के कारण इस समय ऐसा मालूम हो रहा है जैसे सभी भूधरों ने अपने शिखरों—अपने मस्तकों—पर दुपहरिया के लाल लाल फूलों के मुकुट धारण कर लिये हों। सच है, उदारशील सज्जन अपने चारु चरितों से अपने ही उदय देश को नहीं, अन्य देशों को भी आप्यायित करते हैं।

उदयाचल के शिखर-रूप आँगन में बालसूर्य्य को खेलते हुए धीरे-धीरे रेंगते देख पद्मनियों को बड़ा प्रमोद हुआ। सुन्दर को आँगन में जानु-पाणि चलते देख स्त्रियों का प्रसन्न होना ही है। अतएव उन्होंने अपने कमल मुख के विभ्रम के बहाने हँस कर उसे बड़े ही प्रेम से देखा। यह दृश्य देख कर माँ के सदृश अन्तरिक्ष देवता का हृदय भर आया। वह पक्षियों के कल रव के मिस बोल उठी 'आ जा', 'आ जा, आ बेटा, आ।' फिर क्या था, बाल सूर्य्य बाल लीला दिखाता हुआ झट अपने मृदुल कर किरणें फैला कर अन्तरिक्ष की गोद में कूद गया। उदयाचल पर उदित होकर थोड़ी देर में वह आकाश में आ गया।

आकाश में सूर्य के दिखाई देते ही नदियों ने विलक्षण ही रूप धारण किया। दोनों तटों या कगारों के बीच में बहते हुए जल पर सूर्य्य की लाल-लाल प्रातःकालीन धूप जो पड़ी तो वह जल-परिपक्व मदिरा के रंगसदृश हो गया। अतएव ऐसा मालूम होने लगा जैसा सूर्य्य ने अपने किरण बाणों से अंधकाररूपी हाथियों की घटा को सर्वत्र मार गिराया हो; उन्हीं के घावों से निकला हुआ रुधिर बह नदियों में आ गया हो; और उसी के मिश्रण से उनका जल लाल हो गया हो।

तारों का समुदाय देखने में बहुत भला मालूम होता है, यह सच है। यह भी सच है कि भले आदमियों को न कष्ट ही देना चाहिए और न उनको उनके स्थान से च्युत ही करना—हटाना ही—चाहिए। परन्तु सूर्य्य का उदय अन्धकार का नाश करने ही के लिए होता है और तारों की श्रीवृद्धि अन्धकार ही की बदौलत है। इसी से लाचार होकर सूर्य्य को अन्धकार के साथ ही तारों का भी विनाश करना पड़ा—उसे उनको भी जबरदस्ती निकाल बाहर करना पड़ा।

ात यह है कि शत्रु की पदीलत ही जिन लोगों को सम्पत्ति और प्रभुता
ाप्त होती है उनको भी मार भगाना ही पड़ता है—शत्रु के साथ ही
ानका भी विनाश साधन करना ही पड़ता है। न करने से भय का कारण
ना ही रहता है। राजनीति यही कहती है।

सूर्योदय होते ही अन्धकार भयभीत होकर भागा। भाग कर
ह कहीं गुफाओं के भीतर और कहीं घरों के कोनों और कोठरियों के
ीतर जा छिपा। मगर वहाँ भी उसका गुजारा न हुआ। सूर्य यद्यपि
हुत दूर आकाश में था तथापि उसके प्रबल तेज, प्रताप ने छिपे
ुए अन्धकार को उन जगहों से भी निकाल बाहर किया। निकाला
ी नहीं, किन्तु उनका सर्वथा नाश भी कर दिया, बात यह है कि
ाजन्वियों का कुछ स्वभाव ही ऐसा होता है कि एक निश्चित स्थान में
ह कर भी वे अपने प्रताप की धाक से दूर स्थित शत्रुओं का भी
र्वनाश कर डालते हैं।

सूर्य और चन्द्रमा, ये दोनों ही आकाश की दो आँखों के
ामान हैं। उनमें से सहस्रकिरणात्मक, मूर्तिधारी सूर्य ने ऊपर उठ कर
ाम अशेष लोकों का अन्धकार दूर कर दिया तब खूब ही चमक उठा।
ागर बेचारा चन्द्रमा किरणहीन हो जाने से बहुत ही धूमिल हो गया।
स तरह आकाश की एक आँख तो खूब तेजस्वी और दूसरी तेजोहीन
ो गई। अतएव ऐसा मालूम हुआ जैसे एक आँख प्रकाशवती और
ूसरी अन्धी होने से आकाश काना हो गया हो।

कुमुदिनियों का समूह शोभाहीन हो गया और सरोरुहों का
ामूह शोभासम्पन्न। उलूकों तो शोक ने आ घेरा और चक्रवाकों
ो अत्यानन्द ने। इसी तरह सूर्य तो उदय हो गया और चन्द्रमा
ास्त। कैसा आश्चर्यजनक विरोधी दृश्य है! दुष्ट दैव की चेष्टाओं का

परिपाक कहते नहीं बनता। यह बड़ा ही विचित्र है। किसी को यह हँसाता है, किसी को रुलाता है।

सूर्य को आप आकाश गृह का पति समझ लीजिये और भी समझ लीजिये कि पिछली रात वह कहीं और किसी उप अर्थात् विदेश चला गया था। मौका पा कर इसी बीच उसके घ चन्द्रमारूपी चोर आ पहुँचा। पर ज्यों ही सूर्य्य अपना प्रवास सम करके, सवेरे, पूर्व दिशा में, फिर आ धमका त्योंही उसे देख चन्द्रमा के होश उड़ गये। अब क्या हो? और कोई उपाय न देख, अपने किर समूह को चोरी के साधनों के सदृश छोड़ गर्दन झुका कर, वह दक्षि दिशा रूपी खिड़की के रास्ते निकल भागा।

महामहिम भगवान् मधुसूदन जिस समय कल्पांत में, सम लोकों का प्रलय, बात की बात में कर देते हैं, उस समय अप समधिक अनुरागवती श्री, लक्ष्मी, को धारण करके—उन्हें स लेकर—क्षीरसागर में अकेले ही विराजते हैं। दिन चढ़ आने महिमामय भगवान् भास्कर भी, उसी तरह एक क्षण में, सारे ल लोक का संहार करके, अपनी अतिशायिनी श्री शोभा के सहित, सागर ही के समान आकाश में देखिये, अब ये अकेले ही मौज रहे हैं।

(सरस्वती)

क्रोध

(पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी)

याद रखिये, क्रोध से और विवेक से शत्रुता है। क्रोध विवेक का पूरा शत्रु है। क्रोध एक प्रकार की प्रचंड आँधी है। जब क्रोधरूपी आँधी आती है तब दूसरे की बात नहीं सुनाई पड़ती। उस समय कोई चाहे कुछ भी कहे, सब व्यर्थ जाता है। आँधी में भी किसी की बात नहीं सुन पड़ती। इसलिये ऐसी आँधी के समय बाहर से सहायता मिलना असंभव है। यदि कुछ सहायता मिल सकती है तो भीतर से ही मिल सकती है। अतएव मनुष्य को उचित है कि वह पहले ही से विवेक, विचार और चिंतन को अपने हृदय में इकट्ठा कर रक्खे जिसमें क्रोध-रूपी आँधी के समय वह उनसे भीतर से सहायता ले सके। जब कोई नगर किसी बलवान् शत्रु से घेर लिया जाता है, तब उस नगर में बाहर से कोई वस्तु नहीं आ सकती। जो कुछ भीतर होता है, वही काम आता है। क्रोधांध होने पर भी बाहर की कोई वस्तु काम नहीं आती। इसी लिए हृदय के भीतर सुविचार और चिंतन की आवश्यकता होती है। क्रोध इतना बुरा विकार है कि वह सुविचार को जड़ से नाश करने की चेष्टा करता है। वह विष है, क्योंकि उसके नशे में भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता। वह मूर्तिमान् मत्सर है। उसके कारण क्षुद्र से क्षुद्र मनुष्य का भी लोग मत्सर करने लगते हैं। क्रोधी मनुष्य प्रत्येक बात पर, प्रत्येक दुर्घटना पर और प्रत्येक मनुष्य पर, बिना कारण अथवा बहुत ही थोड़े कारण से बिगड़ उठता है। यदि क्रोध का कारण बहुत बड़ा हुआ तो वह उग्र रूप धारण करता

है और यदि उसका कारण छोटा हुआ तो चिड़चिड़ाहट ही तक उसकी नौबत पहुँचती है। अतएव, या तो वह प्रचण्ड होता है या उग्र जनक। दोनों प्रकार से वह बुरा होता है। क्रोध मनुष्य के शरीर भयानक कर देता है, शब्द को कुत्सित कर देता है, आँखों को वि राल कर देता है, चेहरे को आग के समान लाल कर देता है, बा चीत को बहुत उग्र कर देता है। क्रोध न तो मनुष्यता ही का चिह्न और न स्वभाव के सरल किंवा आत्मा के शुद्ध होने ही का। वह नीच अथवा मन की क्षुद्रता का चिह्न है। क्योंकि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रि को अधिक क्रोध आता है, निरोग मनुष्यों की अपेक्षा रोगियों को, यु पुरुषों की अपेक्षा बुड्ढों को और भाग्यवानों की अपेक्षा अभागि को। जो मनुष्य क्षुद्र हैं, उन्हीं को क्रोध शोभा देता है, महान, उ और सत्पुरुषों को नहीं।

जिसे क्रोध आता है, वह उसे ही दुःखदायक नहीं होता। क्रो के समय जो लोग वहां होते हैं, उनको भी वह दुःखदायक हो जाता है। चार आदमियों के सामने किसी छोटे से अपराध पर नौकर-चाकरों को बुरा-भला कहना और उन पर क्रोध करना किसी को अच्छा नहीं लगता। इस प्रकार क्रोध करना और उचित अनुचित बोलना असभ्यता का लक्षण है। क्रोध ही के कारण स्त्री पुरुष में बिगाड़ हो जाता है। क्रोध ही के कारण मित्रों का साथ, सभा-समाज का जाना और जान पहचान वालों के साथ उठना बैठना असह्य हो जाता है। क्रोध ही के कारण सीधी-सादी हँसी की बातों से भयानक और शोक-कारक घट नाएँ पैदा हो जाती हैं। क्रोध ही के कारण मित्र द्रोह करने लगते हैं क्रोध ही के कारण मनुष्य अपने आपको भूल जाता है, उसकी विचार शक्ति जाती रहती है और बात-चीत करने में वह कुछ का कुछ कहने लगता है। क्रोध ही के कारण मनुष्य किसी वस्तु का चुपचाप शां

[illegible] क्रोध अत्यन्त [illegible] है। जिसके हृदय में [illegible] होता है, उसकी बुद्धि [illegible] हो जाती है। क्रोध [illegible] का नाश कर देता है, न्याय और विवेक का [illegible] कर देता है, [illegible] भगवान् नहीं, वे यदि [illegible] क्रोध नहीं करना। क्रोधी मनुष्य [illegible] किसी [illegible] है। उसमें दुःख भी है, द्वेष भी है, भय भी है, [illegible] भी है, घमण्ड भी है, [illegible] भी है, [illegible] भी है, निर्दयता भी है। क्रोध से [illegible] दूसरों को चाहे जितना कष्ट मिले, परन्तु उस मनुष्य को क्रोध आता है, उसी को सबसे अधिक कष्ट मिलता है, और उसी को अधिक हानि भी होती है।

क्रोध से बचने अथवा क्रोध को दूर करने के लिये क्रोध करना उचित नहीं। अपने ऊपर भी क्रोध करने से क्रोध बढ़ता है, घटता नहीं।

क्रोध से बचने के लिये मनुष्य को चाहिये कि वह अपने मन में दृढ़ता से पहले यह प्रण करे कि वह उस दिन क्रोध न करेगा, फिर चाहे उसकी कितनी हानि क्यों न हो। इस प्रकार प्रण करके उसे सजग रहना चाहिये। एक दिन बहुत नहीं होता। यदि वह एक दिन भी क्रोध को जीत लेगा तो दूसरे दिन भी वैसा ही प्रण करने के लिये उसमें साहस आ जाएगा। तब उसे दो दिन क्रोध न करने के लिये प्रण करना उचित है। इस भांति बढ़ाते-बढ़ाते क्रोध न करने का स्वभाव पड़ जाएगा। क्रोध मनुष्य का पूरा शत्रु है। उसके कारण मनुष्य का जीवन दुःखमय हो जाता है। जिसने क्रोध को जीत लिया उसके लिये कठिन से कठिन काम करना सहल है।

क्रोध को बिलकुल ही छोड़ देना अच्छा नहीं। किसी को बुरा काम करते देख उसे पहले मीठे शब्दों से उपदेश देना चाहिये। जो ऐसे उपदेश से वह उस काम को न छोड़े तो उस पर क्रोध करना उचित है। जिस क्रोध से अपने कुटुम्बियों, अपने इष्ट मित्रों अथवा दूसरों का आचरण सुधरे, ईश्वर में पूज्य-बुद्धि उत्पन्न हो, उदारता और परोपकार में प्रवृत्ति हो, वह क्रोध बुरा नहीं।

(सरस्वती)

मिठाई को चुराकर खा लेता है तो वह मन में डर करता और
से आप पछताता है कि मैंने ऐसा काम क्यों किया, मुझे अपने
से बढ़कर खाना था। इसी प्रकार एक दूसरा लड़का, जो कभी
चुराकर नहीं खाता, सदा प्रसन्न रहता है और उसके मन में
किसी प्रकार का डर या पछतावा नहीं होता। इसका क्या कारण
यही कि हम चोरी कर बैठते हैं तो हमारी आत्मा हमें कोसने
है। इसलिए हमारा यह धर्म है कि हमारी आत्मा हमें जो कहे, उ
के अनुसार हम करें। दृढ़ विश्वास रक्खो कि जब तुम्हारा मन कि
काम के करने से हिचकिचाये और दूर भागे तो कभी तुम उस का
को न करो। तुम्हें अपना धर्मपालन करने में बहुधा कष्ट उठाना पड़े
पर इससे तुम अपना साहस न छोड़ो। क्या हुआ जो तुम्हारे पड़ो
ठगविद्या और असत्यता, बेईमानी से धनाढ्य हो गये और तुम क
ही रह गये। क्या हुआ जो दूसरे लोगों ने झूठी चाटुकारी, सुशा
करके बड़ी बड़ी नौकरियाँ पा लीं और तुम्हें कुछ न मिला, और क्या
हुआ जो दूसरे नीच कर्म करके सुख भोगते हैं और तुम सद
कष्ट में रहते हो। तुम अपने कर्तव्य-धर्म को न छोड़ो और देखो इससे
बढ़कर सन्तोष और आदर क्या हो सकता है कि तुम अपने धर्म का
पालन कर सकते हो।

हम लोगों का जीवन सदा अनेक कार्यों में व्यग्र रहता है। ह
लोगों को सदा श्रम करते ही बीतता है। इसलिए हम लोगों को इ
बात पर पूरा ध्यान रखना चाहिये कि हम लोग सदा अपने धर्म के
अनुसार काम करें, कभी उसके पथ पर से न हटें चाहे उसके कर
में हमारे प्राण भी चले जायँ तो कोई चिन्ता नहीं। धर्मपालन करने
मार्ग में सब से अधिक बाधा चित्त की चञ्चलता, उद्देश्य की अस्थिर
और मन की निर्बलता से पड़ती है। मनुष्य के कर्तव्य मार्ग में प

भी गुणवान बनना चाहते हैं। जैसे यदि कोई पुरुष कविता करना न जानता हो, पर वह अपना ढंग ऐसा बनाये रहे, जिससे लोग समझें कि वह कविता करना जानता है, तो कविता का आडम्बर करने वाला वह मनुष्य झूठा है। और फिर वह अपने भेष का निर्वाह पूरी रीति से न कर सकने पर दुःख सहता है और अन्त में भेद खुल जाने पर सब लोगों की आँखों में झूठा और नीच गिना जाता है। परन्तु जो मनुष्य सत्य बोलता है वह आडम्बर से दूर भागता है और उसे दिखावा नहीं रुचता उसे तो इसी में बड़ा सन्तोष और आनन्द होता है कि सत्य के साथ वह अपना कर्तव्य पालन कर सकता है।

इस लिये हम सब लोगों का यह परम धर्म है कि सत्य बोलने को सब से श्रेष्ठ मानें, कभी झूठ न बोलें, चाहे उससे कितनी ही अधिक हानि क्यों न होती हो।

सत्य बोलने ही से समाज में हमारा सम्मान हो सकेगा और हम आनन्द-पूर्वक अपना समय बिता सकेंगे। क्योंकि सच्चे को सब कोई चाहते और झूठे से सभी घृणा करते हैं। यदि हम सदा सत्य बोलना अपना धर्म मानेंगे तो हमें अपने कर्तव्य के पालन करने में कुछ कष्ट न होगा और बिना किसी परिश्रम और कष्ट के हम अपने मन सदा प्रसन्न और सुखी बने रहेंगे।

('स्माइल्स कैरेक्टर' के आशय पर)

सुख और शान्ति

(बाबू रामचन्द्र वर्मा)

संसार में जितने काम होते हैं सब केवल सुख की प्राप्ति के लिए ही होते हैं। धनोपार्जन, अध्ययन, व्यापार, दान, धर्म, विवाह, सन्तान, आत्महत्या, द्वेष, निन्दा, सभी अच्छी और बुरी बातें एकमात्र सुख की प्राप्ति के लिए ही की जाती हैं। लेकिन जिस सुख की संसार के प्रत्येक मनुष्य को इतनी चाह है, उसी के सम्बन्ध में एक बात बड़ी ही विलक्षण है। वह यह कि सुख का स्वरूप सदा निश्चित और एकसमान नहीं है, सभी लोग उसके सम्बन्ध में बड़े ही भ्रम में पड़े रहते हैं। यह भ्रम केवल सुख का सच्चा स्वरूप न जानने के कारण ही है और इसी लिए यदि एक मनुष्य को कौड़ी-कौड़ी जमा करके सम्पत्ति बनाने में सुख जान पड़ता है तो दूसरा अपने पूर्वजों की लाखों की सम्पत्ति बहुत ही थोड़े समय में मद्यपान आदि में नष्ट कर देने में ही सुख समझता है। एक मनुष्य यदि पशु-पक्षियों और छोटे-छोटे जीवों तक पर दया करने और उनके प्राणों की रक्षा करने में सुख मानता है तो दूसरा मनुष्य भाइयों का खून बहाने में ही सुखी होता है। यदि किसी को इन्द्रिय-तृप्ति में सुख मिलता है तो किसी को इन्द्रिय-दमन में। कोई बड़े महलों में रहने से ही सुखी होता है और कोई झोंपड़ी में ही पड़े रहने में सुख मानता है।

लेकिन सुख का वास्तविक स्वरूप समझने वाले लोग बहुत ही थोड़े हैं। सब लोग जिस बात में सुख समझते हैं उसी में लग जाते

हैं। पर उनका समझना भ्रमात्मक होता है, इसी लिए अन्त में उन्हें दुःख मिलता है। धन को सुख समझने वाला बहुत सा धन एक करता है, पर अन्त में जब उसका जवान लड़का मर जाता है या ह स्वयं किसी भारी रोग से पीड़ित होता है, तब वह धन उसे सुखी नहीं कर सकता। कभी-कभी तो वह धन उसके लिए और भी दुःख का कारण हो जाता है। चोर या डाकू आकर उसी धन के लिए उसे अनेक प्रकार के कष्ट पहुँचाते हैं और उसे समझना पड़ता है कि यदि मेरे पास यह धन न होता तो मैं अपेक्षाकृत अधिक सुखी होता। इन्द्रिय तृप्ति में सुख समझने वाला मनुष्य भी सदा दुःखी ही रहता है, क्योंकि ज्यों-ज्यों वह विषय-वासनाओं में फँसता जाता है त्यों-त्यों उन वासनाओं की वृद्धि होती जाती है। वह सुख तो समझता है इन्द्रियों की तृप्ति में, पर इन्द्रियों की तृप्ति होती नहीं, उलटे वासनायें बढ़ती जाती हैं, इसलिए उसे सुख के बदले दुःख ही मिलता है। इन्हीं सब विरोधों और कठिनाइयों को देखकर विद्वानों ने चिन्तन पूर्वक निश्चय किया है कि संसार के बाह्य पदार्थों के साथ वास्तविक सुख का कोई सम्बन्ध नहीं है। सुख का मुख्य सम्बन्ध मन से ही है। इसी लिए भगवान् मनु ने भी सुख और दुःख का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

अर्थात् जो दूसरों, बाह्य पदार्थों की अधीनता में है वह सब दुःख है और जो अपने मन के अधिकार में है वह सुख है। सुख और दुःख का संक्षेप में यही लक्षण है।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने भी सुख का लक्षण कुछ इसी से मिलता-जुलता निश्चित किया है। उनके मत में भी सुख बाह्य पदा

या कष्ट नहीं है और यह सब प्रकार से सुखी है। बादशाह के दूतों ने उससे कहा—भाई, तुम हमें अपना कोई फटा पुराना कुरता दे दो। हम उसे बादशाह को पहना कर सुखी करेंगे। लकड़हार ने उत्तर दिया, भाई, मैंने तो आज तक कोई कुरता बनवाया या पहना ही नहीं। मैं कुरता कहाँ से दूँ ?

कोई मनुष्य संसार को दुःखपूर्ण और विपत्तियों का घर समझता है और कोई सुखपूर्ण तथा सब प्रकार की सुविधाओं का केन्द्र मानता है। इसी प्रकार की और भी अनेक ऐसी बातें हैं जिनसे सिद्ध होता है कि सुख का सम्बन्ध बहुत से अंशों में केवल मन से है, बाह्य पदार्थों से उसका कोई सरोकार नहीं है। जो मनुष्य अपने मन और विचारों को वश में रख सकता है वही सदा सुखी भी रह सकता है। इस प्रकार सुखी होना मानो एक तरह की विद्या या कला पर निर्भर है। जो मनुष्य यह विद्या या कला जानते हैं, वे प्रायः सभी दशाओं में परम प्रसन्न और सन्तुष्ट रहते हैं। उन्हें चारों ओर सुख और आनन्द ही दिखाई देता है। उन पर चाहे कैसी ही विपत्ति क्यों न आ पड़े वे सदा प्रसन्न ही रहते हैं। ऐसे मनुष्य वास्तव में ईर्ष्या के पात्र होते हैं।

मनुष्य की सदा प्रसन्न रहने की वृत्ति कुछ तो स्वाभाविक और जन्मतः होती है, और कुछ सम्पादित भी होती है। किसी बात का अच्छा या बुरा परिणाम निकालना स्वयं हमारे हाथों में है। विशेषतः अपने जीवन को सुखपूर्ण या दुःखपूर्ण बनाना तो और भी हमारे अधिकार में है। संसार में सुख भी है और दुःख भी। उन दोनों में से किसी एक का ग्रहण और दूसरे का त्याग हमारे ही हाथ में है। हम अपनी मनोवृत्ति को सहनशील और सुखात्मक भी बना सकते हैं और असहनशील तथा दुःखात्मक भी। जो मनुष्य सदा प्रसन्न और

का सबसे अच्छा उपाय महाभारत में दिया है। उसमें एक स्थान लिखा है—

भैषज्यमेतद्दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत् ।

अर्थात् मन में दुःखों की चिन्ता न करना ही उसके निवारण सब से अच्छा उपाय है। तात्पर्य यह कि जो मनुष्य दुःखों को चित्त से भुला सकता है - प्रसन्न और आनन्दित हो सकता है— सुखी है। विपत्तियों और कष्टों का सामना तो सभी को करना पड़ता है, उससे कोई बच नहीं सकता। अब मनुष्य चाहे उसे प्रसन्नता और सुखपूर्वक झेले और चाहे खेद और दुःखपूर्वक। हमारा खिन्न मन हमें दुःखी बना देता है और प्रसन्न मन हमें सुखी कर देता है। सुख की उत्पत्ति हमारे मन से ही होती है, वह बाहर से हमारे शरीर में नहीं जा सकता। जो मनुष्य केवल अपने मन की सहायता से ही सुखी नहीं हो सकता वह और भी किसी उपाय से सुखी नहीं हो सकता। मनुष्य चाहे प्रसन्न हो, या न हो, पर यदि वह दुःखों का ध्यान छोड़ दे तो अवश्य सुखी रहता है।

लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि मन को इतना उच्च बना लेना कि उसे सुख और दुःख का बोध ही न हो, सर्व साधारण के लिए बहुत ही कठिन है। उसके लिए बहुत ही उच्च शिक्षा और विचारों आदि की आवश्यकता होती है। साथ ही अपने चित्त को भी सदा प्रसन्न ही रखना और उस पर दुःख की कलुषित छाया न पड़ने देना भी सहज काम नहीं है। जो लोग सदा संसार के झंझटों और बखेड़ों में फँसे रहते हैं, उनके लिए तो सदा प्रसन्न चित्त और फलतः सुखी रहना और भी कठिन है। यद्यपि वास्तविक दृष्टि से देखा जाये तो यही निश्चित होगा कि बाह्य पदार्थों का सुख के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, पर तो भी कुछ बातें अवश्य ऐसी हैं जिनका साधारण रूप से चित्त वृत्ति पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है और इसी लिए स्पृहा इसे

यथेच्छा पूर्ण कर सकता है और फलतः सुखी हो सकता है। कभी
हमारे पास अपनी भोगेच्छाओं को तृप्त करने के लिए यथेष्ट धन न
हो, पर हम मे धैर्य [illegible] रहते हैं।
इसी प्रकार शारीरिक [illegible]
करता है। एक कदाच [illegible]
मनुष्य के पास बहुत धन सम्पत्ति हो, बहुत से बाल-बच्चे [illegible]
अच्छे अच्छे अनेक मित्र भी हों, पर वह स्वयं सदा रोगी रहता है
तो उसके सुखी होने में बहुत कुछ बाधा पड़ सकती है। जिस समय
शरीर में तीव्र वेदना हो उस समय उसे किसी पदार्थ से सुख नहीं
मिल सकता। अच्छी आदतें सदाचार के ही अन्तर्गत आ जाती हैं
अतः वे भी हमें सुखी बनाने में बहुत कुछ सहायक होती हैं। कदाचित्
कोई बुद्धिमान् यह कहने या मानने के लिये तैयार न होगा कि बुरी
आदतें रख कर भी कोई मनुष्य सुखी या प्रसन्न हो सकता है। अच्छे
मित्रों से हमारा कल्याण होता है और हमें कितना सुख मिलता है
यह पहले किसी प्रकरण में सत्संगति का महत्त्व समझाते हुए बतला
जा चुका है। अच्छे लोगों का सहवास हमें सदा सुखी रक्खेगा।
यदि हम बुरे लोगों का साथ करेंगे तो चाहे स्वयं हमारा और को
अपराध हो या न हो, केवल बुरों की संगति के अपराध के कारण
हम कभी न कभी भारी विपत्ति में फँस जायँगे और हमें बहुत दु
भोगना पड़ेगा। सुखी होने के लिए अच्छे परिवार की भी बहुत
आवश्यकता होती है। यहाँ कदाचित् यह बतलाने की आवश्य
नहीं कि अच्छे परिवार के सब लोग इसी संसार में स्वर्ग का
भोग लेते हैं। दुष्ट परिवार के लोग नरक की सारी यातनाओं का
अनुभव कर लेते हैं। विद्या एक ऐसी चीज़ है जो और दशाओं में
हमें प्रसन्न तथा सुखी रखती है, पर साथ ही विपत्ति और कष्ट

[स]मय भी वह हमें सुख पहुँचा सकती है, और ज्ञान तो हमें दुःख का [अ]नुभव ही नहीं होने देता। यदि हम चाहते हों कि संसार में हमारे [ल]िए दुःख का कहीं नाम भी न रह जाय, हमें चारों ओर केवल [सु]ख दिखाई दे, तो हमें चाहिए कि हम सब काम छोड़ कर केवल [ज्ञ]ानार्जन करें। सुखी होने का इससे अच्छा और कोई उपाय ही [न]हीं है।

जो मनुष्य सदा अच्छी बातें सोचता रहता है और जिसके [म]न में कभी बुरे विचार नहीं उठते, वह सदा प्रसन्न और सुखी रहता [है]। रस्किन ने कहा है,—"हम लोग प्रायः यह शिकायत किया करते [है]ं कि हम स्वतन्त्र नहीं हैं, हमारे पास सुख के साधन नहीं हैं, हमारे [पा]स धन नहीं है, आदि आदि। लेकिन हम लोगों में से कौन मनुष्य [ऐ]सा है जो यह समझता है कि मुझे शांति की आवश्यकता है? [य]दि आप शांति प्राप्त करना चाहते हों तो उसके दो उपाय हैं, जिनमें [से] एक तो बिलकुल आपके हाथ में ही है और वह उपाय है, सदा [म]न में अच्छे विचार रखना। दरिद्रता के दुःखों आदि से बचने के [लि]ये हम सुन्दर विचारों के बड़े बड़े प्रासाद बना सकते हैं।" और [वा]स्तव में जो मनुष्य सदा अच्छी अच्छी बातें सोचा करता हो उसकी [आ]त्मा सदा बहुत ही शांत और प्रसन्न रहती है।

बुरे विचारों से बचने और सदा प्रसन्न रहने में मनुष्य को [प्र]कृति प्रेम से बड़ी भारी सहायता मिलती है और उसका ज्ञान भी [ब]ढ़ता है। एक विद्वान् का मत है—'हम प्रकृति और जीवन, मनुष्य-[औ]र बालक, कार्य्य और विश्राम सभी अवस्थाओं और स्थानों में [जि]तना ही अधिक सौंदर्य्य देखते हैं, उतना ही अधिक मानों हम [ई]श्वर को देखते हैं।' और यही ईश्वर-दर्शन परम सुख है! पर आज

कल हम लोगों में से अधिकांश अपने काम-धन्धे में इतने फँसे रहते हैं कि हमें कभी प्रकृति की शोभा देखने का अवसर ही नहीं मिलता और इसी लिए यह लोग उसका महत्त्व भी भूल गये हैं। सूर्योदय और सूर्यास्त के दृश्य, फूल, पत्ते, पौधे, पेड़, मैदान, नदियां, पहाड़, चिड़ियों का मधुर गान आदि सब ऐसी बातें हैं जिनकी ओर यदि हम कुछ ध्यान दें, तो हमारा मन आप उनकी ओर आकृष्ट होने लगता है और उन पर थोड़ा सा विचार करके हम अनन्त सुख, शांति और साथ ही साथ शिक्षा भी प्राप्त कर सकते हैं। दुःख से जर्जर मन-आत्मा को सुखी और पवित्र करने में प्राकृतिक शोभा अमृत का काम करती है।

बहुत से लोग दिन रात सुख और आनन्द की चिन्ता में पड़े रहते हैं और यथासाध्य उनकी प्राप्ति के प्रयत्न में लगे रहते हैं पर इसका परिणाम प्रायः उलटा ही होता है। वे लोग यह नहीं समझते कि जो मनुष्य सुख के बहुत पीछे पड़ता है, सुख उससे परे परे भागता है। सदा सुख की चिन्ता में ही व्यग्र रहने वाले मनुष्य की अपेक्षा वह मनुष्य कहीं अधिक सुखी रहता है जो कभी सुख की चिन्ता भी नहीं करता। जो मनुष्य सदा सुख की चिन्ता में ही लगा रहता है वह प्रायः मोह, मत्सर और लोभ आदि में फँस जाता है और उसका उद्देश्य कभी सिद्ध नहीं होता। सुख ढूंढ़ते ढूंढ़ते वह ऐसे मार्ग में जा पड़ता है जिसमें केवल दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता। बात यह है कि सुख ऐसी स्थिति में नहीं मिलता जिसमें केवल बड़े धनवानों और बुद्धिमानों की ही पहुँच हो सकती है। जिस तक साधारण मनुष्य बहुत ही सहज में पहुँच सकते हैं, वहीं सुख प्राप्त रहते हैं, उसी स्थिति में मन को अधिक सुख होता है। सुख के साधन तो प्रायः सभी लोगों के पास होते हैं। इसके लिए

धन ढूँढने में मनुष्य को व्यर्थ परिश्रम न करना चाहिये, बल्कि जो धन उसे पहले से ही प्राप्त हों उन्हीं से लाभ उठाकर सुखी बनना चाहिये। बहुत से लोग प्राप्त साधनों का पूरा पूरा उपयोग नहीं करते और व्यर्थ नये नये साधन ढूँढ़ते फिरते हैं। ऐसे मनुष्यों को यदि सुख बदले उलटे दुःख ही हो तो इसमें क्या आश्चर्य है? उचित तो यह है मनुष्य नये नये साधनों की प्राप्ति का ध्यान छोड़ दें और जो साधन पहले से प्राप्त हों अथवा जो सामने आजाये उन्हीं से लाभ उठा र वह सुखी बने। जंगल में फँसी हुई चिड़ियों को छोड़ कर आकाश उड़ती हुई चिड़ियों के पीछे दौड़ना मूर्खता नहीं तो और क्या है? में सदा सब बातों से सुखी रहने के लिये तैयार रहना चाहिये।

सुखी होने का सब से अच्छा एक और उपाय है। अपनी मनाओं और आशा आदि को सदा वश में रखना। जो मनुष्य बहुत कामनायें और आशायें करेगा उसे प्रायः दुःखी रहना पड़ेगा। की सभी कामनाएँ और आशायें तो पूरी होंगी नहीं, फलतः वह न्नित, दुःखी और निराश ही रहेगा। एक विद्वान् के मत से कामनायें न प्रकार की होती हैं:—एक तो प्राकृतिक और आवश्यक, दूसरी कृतिक पर अनावश्यक और तीसरी अप्राकृतिक और अनावश्यक। कामनायें प्राकृतिक और अनावश्यक होती हैं, उनकी पूर्ति बिना सी प्रकार के कष्ट या व्यय आदि के बहुत ही सहज में हो जाती । जो कामनायें अथवा आवश्यकतायें केवल प्राकृतिक होती हैं, पर वश्यक नहीं होती उनकी पूर्ति के लिए भी विशेष कठिनता नहीं ती, क्योंकि वे प्राकृतिक होती हैं और उनकी पूर्ति स्वयं प्रकृति ही र लेती है। ऐसी आवश्यकतायें बहुत ही परिमित होती हैं, सहज में ति हो जाती हैं और मनुष्य को अच्छी तरह सन्तुष्ट भी कर देती । लेकिन जो इच्छायें बिलकुल अस्वाभाविक और अनावश्यक या

निरर्थक होती हैं उनकी न तो कोई हद होती है और न पूर्ति। कामनाओं के कारण मनुष्य सदा दुखी रहता है। जो मनुष्य चाहते हों उन्हें चाहिये कि ऐसी कामनाओं से सदा बचे रहें, तक हो सके अपनी आवश्यकताओं और कामनाओं आदि को रखना चाहिये। एक महात्मा का कथन है कि—"जिस मनुष्य वश्यकतायें जितनी ही कम हों उसे ईश्वर के उतने ही समीप चाहिये।" तब फिर ईश्वर की समीपता से बढ़ कर सुख कहाँ मि है? अपने मन को वश में रखिये और अपनी आवश्यकता घटाइए, और ईश्वर के निकट और ऐसी स्थिति में पहुँच जाइए आपको परम सुख मिलेगा। एवमस्तु।

(मानवी जीवन

महात्मा-बुद्ध

(श्री मैथिलीशरण गुप्त)

कपिलवस्तु के महाराज शुद्धोदन के पुत्र रूप में भगवान बुद्धदेव का अवतार हुआ था। उनकी जननी माया-देवी उन्हें जन्म पर ही मानो कृत्य-कृत्य होकर मुक्ति पा गईं। शुद्धोदन की दूसरी नी नन्द-जननी महाप्रजापती ने उनका लालन-पालन किया।

उनका नाम सिद्धार्थ और गौतम भी था। सिद्ध लाभ करके वे द्ध कहलाये। सुगत, तथागत और अमिताभ आदि और भी नके नाम हैं।

बाल्यकाल से ही उनमें वीतराग के लक्षण प्रकट होने लगे थे। शिक्षा प्राप्त करने पर उनकी और भी वृद्धि हुई। शुद्धोदन को चिन्ता ई और उन्हें संसारी बनाने के लिये उन्होंने उनका ब्याह कर देना ही ीक समझा। खोज और परीक्षा करने पर देवदह की राजकुमारी यशोधरा ही, जिसे गोपा भी कहते हैं, उनकी वधू बनने के योग्य सिद्ध हुई।

यशोधरा के पिता महाराज दण्डपाणि ने सम्बन्ध स्वीकार करने के पहले वर की विद्या-बुद्धि के साथ उनके बल-वीर्य की भी परीक्षा लेनी चाही। सिद्धार्थ ने शास्त्र-शिक्षा के साथ ही साथ शस्त्र-शिक्षा भी ग्रहण की थी। परन्तु शास्त्र की ओर ही पुत्र का मनोयोग समझ कर पिता को कुछ चिन्ता हुई। तथापि कुमार सब परीक्षाओं में अनायास ही

उत्तीर्ण हो गये। "टूटत ही धनु भयेहु विवाहू" के अनुसार यशोधरा के साथ उनका विवाह हो गया।

पिता ने उनके लिये ऐसा प्रासाद बनवाया था जिसमें सभी ऋतुओं के योग्य सुख के साधन एकत्र थे। किसी राग-रङ्ग और आमोद-प्रमोद की कमी न थी। परन्तु भगवान् तो इसके लिये अवतीर्ण हुए नहीं थे। पिता का प्रबन्ध था कि जो कुछ स्वस्थ, शोभन और सजीव हो उसी पर उनकी दृष्टि पड़े। परन्तु एक दिन एक रोगी को, दूसरे दिन एक वृद्ध को और तीसरे दिन एक मृतक को देखकर, संसार की इस गति पर गौतम को बड़ी ग्लानि एवं करुणा आई और उन्होंने इसका उपाय खोजने के लिये एक दिन अपना घर छोड़ दिया। उनके उस प्रयाण को महाभिनिष्क्रमण कहते हैं।

तब तक उनके एक पुत्र भी हो चुका था। उसका नाम था राहुल अभी उसके जन्म का उत्सव भी पूरा न हुआ था कि कपिलवस्तु में उनके गृह-त्याग का शोक छा गया।

रात को अपने सेवक छन्दक के साथ कन्थक नामक अश्व पर चढ़ कर वे चल दिये।

जिस प्रकार रुग्ण, वृद्ध और मृतक को देख कर वे चिंतित हुए थे उसी प्रकार एक दिन एक तेजस्वी संन्यासी को देख कर उन्हें सन्तोष भी हुआ था। अपने राज्य की सीमा पर पहुँच कर उन्होंने वेष-भूषा छोड़ कर संन्यास धारण कर लिया और रोते हुए छन्दक को कपिलवस्तु लौटा दिया। सब के लिये उनका यही सन्देश था कि मैं सिद्ध-लाभ कर लौटूँगा।

सिद्धार्थ वैशाली और राजगृह में विद्वानों का सत्सङ्ग करते हुए गया जी पहुँचे। राजगृह के राजा बिम्बसार ने उन्हें अपने राज्य का अधिकार तक देकर रोकना चाहा, परन्तु वे तो स्वयं अपना राज्य

छोड़ कर आये थे। हाँ, सिद्धि-लाभ करके बिम्बसार को दर्शन देना उन्होंने स्वीकार कर लिया।

राजगृह से पाँच ब्रह्मचारी भी तप करने के लिए उनके साथ हो लिए थे, जो पञ्चभद्रवर्गीय के नाम से प्रसिद्ध हैं।

निरंजन नदी के तीर पर गौतम ने तपस्या आरम्भ कर दी। बरसों तक वे कठोर साधना करते रहे, परन्तु सिद्धि का समय अभी नहीं आया था।

उनका विगलितवसन शरीर आतप, वर्षा, शीत और क्षुधा के कारण ऐसा अवश और जड़ हो गया कि चलना फिरना तो दूर, उनमें हिलने-डुलने की भी शक्ति न रह गई। विचार करने पर उन्हें यह मार्ग अनुपयुक्त जान पड़ा और उन्होंने मिताहार स्वीकार करके योग साधन करना उचित समझा। किन्तु उनके साथी पाँचों भिक्षुओं ने उन्हें तपभ्रष्ट समझ कर उनका साथ छोड़ दिया।

गौतम ने उनकी निन्दा पर दृक्पात भी नहीं किया। वे निन्दास्तुति से ऊपर उठ चुके थे परन्तु निर्बलता के कारण वे भिक्षा करने के लिये भी न जा सकते थे। इधर उनके शरीर पर वस्त्र भी न था। उसकी उन्हें आवश्यकता भी न थी। परन्तु लोक में भिक्षा करने के लिए जाने पर लोक की मर्यादा का विचार कैसे छोड़ सकते थे!

किसी प्रकार खिसक कर पास के श्मशान से एक वस्त्र उन्होंने प्राप्त किया और उसे धारण कर लिया।

गाँव की कुछ लड़कियाँ उन्हें कुछ आहार दे जाती थीं। उसी से उनमें चलने-फिरने की शक्ति आ गई। सुजाता नाम की एक स्त्री ने उन्हें बड़ी सुस्वादु खीर भेंट की थी। उसे खाकर, कहते हैं, भगवान बहुत प्रसन्न हुए थे।

एक दिन निरञ्जन नदी को पार कर उन्होंने एकान्त में एक

अश्वत्थ वृक्ष देखा। यह स्थान उन्हें समाधि के लिये बहुत उपयुक्त जान पड़ा। अन्त में वही वृक्ष बोधि-वृक्ष कहलाया और वहीं समाधि में निर्वाण का तत्व उनको दृष्टिगोचर हुआ।

इसके पहले स्वयं मार (कामदेव) ने उन्हें उस मार्ग से विरत करना चाहा। परन्तु वे ऐसे ऋषि मुनि न थे जो डिग जाते।

मार ने लुभाने की चेष्टा नहीं, उन्हें डराया धमकाया भी। कितनी ही विभीषिकायें उनके सामने आईं, परन्तु वे अटल रहे।

स्वयं जीवनमुक्त होकर भगवान् ने जीवमात्र के लिये मुक्ति का मार्ग खोल दिया।

कर्मकाण्ड के आडम्बर की अपेक्षा सदाचार को उन्होंने प्रधानता दी और यज्ञों के नाम से होने वाली जीव-हिंसा का घोर विरोध किया।

जो पाँच भिक्षु उनका साथ छोड़ कर चले गये थे उन्हीं को सब से पहले भगवान् के उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, संसार भर में जिसकी धूम मच गई, काशी के समीप सारनाथ में ही आरम्भ में, उस धर्मचक्र का प्रवर्त्तन हुआ। वे भिक्षु उन दिनों वहीं थे।

रोहिणी नदी के तीर पर कपिलवस्तु में भी यह समाचार कैसे न पहुँचता! शुद्धोदन ने बुद्धदेव को बुलाने के लिये दूत भेजे। परन्तु जो जो उन्हें लेने के लिये गये वे सब उनके संघ में दीक्षित हो गये। अन्त में शुद्धोदन ने अपने मंत्री-पुत्र को, जो सिद्धार्थ का बालसखा था, उन्हें लेने के लिये भेजा। वह भी भगवान् के संघ में प्रविष्ट हो गया, परन्तु शुद्धोदन से प्रतिज्ञा कर आया था, इसलिए भगवान् को उनका स्मरण दिलाना न भूला।

भगवान् कपिलवस्तु पधारे। रात को वे नगर के बाहर उद्यान में रहे। सबेरे नियमानुसार भिक्षा के लिये निकले। इस समाचार से

वहाँ हलचल मच गई। यशोधरा को बड़ा परिताप हुआ। शुद्धोदन ने खेदपूर्वक उनसे कहा—'क्या यही हमारे कुल की परिपाटी है ?' भगवान् ने कहा—'नहीं, यह बुद्ध-कुल की परिपाटी है।'

भगवान् राजप्रासाद में पधारे। सब ने उनका उचित स्वागत समादार किया। परन्तु यशोधरा उस समारोह में सम्मिलित न हुई। उससे कहा गया तो उसने यही कहा—'भगवान की मुझ पर कृपा होगी तो वे स्वयं ही मेरे समीप पधारेंगे। अन्त में भगवान् ही उसके निकट गए और उस समय भी इस महीयसी महिला ने उन्हें राहुल का दान देकर अपने महत्याग का परिचय दिया।

(यशोधरा)

मित्रता

(श्री रामचन्द्र शुक्ल)

जब कोई युवा पुरुष अपने घर से बाहर निकल कर बाहरी संसार में अपनी स्थिति जमाता है, तब पहली कठिनता उसे मित्र चुनने में पड़ती है। यदि उसकी स्थिति बिलकुल एकांत और निराली नहीं रहती तो उसकी जान पहचान के लोग धड़ाधड़ बढ़ते जाते हैं और थोड़े ही दिनों में कुछ लोगों से उसका हेल-मेल हो जाता है। यही हेल-मेल बढ़ते-बढ़ते मित्रता के रूप में परिणत हो जाता है। मित्रों के चुनाव की उपयुक्तता पर उसके जीवन की सफलता निर्भर हो जाती है, क्योंकि संगत का गुप्त प्रभाव हमारे आचरण पर बड़ा भारी पड़ता है। हम लोग ऐसे समय में समाज में प्रवेश करके अपना कार्य आरम्भ करते हैं जबकि हमारा चित्त कोमल और हर तरह के संस्कार ग्रहण करने योग्य रहता है, हमारे भाव अपरिमार्जित और हमारी प्रवृत्ति अपरिपक्व रहती है, अपने मनोवेगों की शक्ति और अपनी प्रकृति की कोमलता का पता हम को नहीं रहता। हम लोग कच्ची मिट्टी की मूर्ति के समान रहते हैं जिसे जो जिस रूप का चाहे उस रूप का करे—चाहे राक्षस बनाये चाहे देवता। ऐसे लोगों का साथ करना हमारे लिये बुरा है जो हमसे अधिक दृढ़ संकल्प के हैं, क्योंकि हमें उनकी हर एक बात बिना विरोध के मान लेनी पड़ती है। पर ऐसे लोगों का साथ करना और भी बुरा है जो हमारी ही बात को ऊपर रखते हैं क्योंकि ऐसी दशा में न तो हमारे ऊपर कोई दाब रहती है और न हमारे लिये कोई सहारा रहता है। दोनों अवस्थाओं में जिस

[illegible] है, [illegible] है यदि विवेक से [illegible] नहीं रहता, पर कि पुरुष प्रायः विवेक से [illegible] होते हैं [illegible] आश्चर्य की बात है कि [illegible] थोड़ा होते हैं [illegible] कितना [illegible] देते हैं, पर मित्र के लिए [illegible] उसके [illegible] आचरण और प्रकृति आदि का कुछ भी विचार और अनुसंधान नहीं करते। वे उसकी सब बातें अच्छी ही अच्छी मानकर [illegible] अपना पूरा विश्वास जमा देते हैं। हँसमुख चेहरा, बातचीत का ढंग, थोड़ी चतुराई या साहस—ये ही दो चार बातें किसी में देखकर लोग चटपट उसे अपना मित्र बना लेते हैं। हम लोग यह नहीं सोचते कि मैत्री का उद्देश्य क्या है, तथा जीवन के व्यवहार में उसका कुछ मूल्य भी है। यह बात हमें नहीं सूझती कि यह एक ऐसा साधन है जिससे आत्मशिक्षा का कार्य बहुत सुगम हो जाता है। एक प्राचीन विद्वान का वचन है कि—"विश्वासपात्र मित्र से बड़ी भारी रक्षा रहती है। जिसे ऐसा मित्र मिल जाय उसे समझना चाहिए कि खजाना मिल गया।" विश्वासपात्र मित्र जीवन की एक औषध है। हमें अपने मित्रों से यह आशा रखनी चाहिए कि वे उत्तम संकल्पों में हमें दृढ़ करेंगे, दोषों और त्रुटियों से हमें बचावेंगे; हमारे सत्य, पवित्रता और मर्यादा के प्रेम को पुष्ट करेंगे, जब हम कुमार्ग पर पैर रक्खेंगे, तब वे हमें सचेत करेंगे, जब हम हतोत्साह होंगे तब हमें उत्साहित करेंगे; सारांश यह है कि वे हमें उत्तमतापूर्वक जीवन-निर्वाह करने में हर तरह से सहायता देंगे। सच्ची मित्रता में उत्तम से उत्तम वैद्य-की-सी निपुणता और परख होती है, अच्छी से अच्छी माता का धैर्य और कोमलता होती है। ऐसी ही मित्रता करने का प्रयत्न प्रत्येक युवा पुरुष को करना चाहिए।

छात्रावस्था में तो मित्रता की धुन सवार रहती है। मित्रता हृदय से उमड़ी पड़ती है। पीछे जो स्नेह-बन्धन होते हैं, उनमें न तो उतनी

उमङ्ग रहती है और न उतनी खिन्नता। बाल मैत्री में
वाला आनन्द होता है, जो हृदय को बेधने वाली ईर्ष्या
होती है वह और कहाँ? कैसी मधुरता और कैसी अनुरक्ति
कैसा अपार विश्वास होता है। हृदय के कैसे-कैसे उद्गार
हैं। वर्तमान कैसा आनन्दमय दिखाई पड़ता है और भ
सम्बन्ध में कैसी लुभाने वाली कल्पनायें मन में रहती हैं।
बिगाड़ होता है और कैसी आर्द्रता के साथ मेल होता है!
क्षोभ से भरी बातें होती हैं और कैसी आवेगपूर्ण लिखा-पढ़ी होती
कितनी जल्दी बातें लगती हैं और कितनी जल्दी मानना-मनाना
है। 'सहपाठी की मित्रता,' इस उक्ति में हृदय के कितने भारी
पुथल का भाव भरा हुआ है। किन्तु जिस प्रकार युवा पुरुष की मि
स्कूल के बालक की मित्रता से दृढ़, शांत और गम्भीर होती है,
प्रकार हमारी युवावस्था के मित्र बाल्यावस्था के मित्रों से कई बातों
भिन्न होते हैं। मैं समझता हूँ कि मित्र चाहते हुए बहुत से लोग
के आदर्शों की कल्पना मन में करते होंगे, पर इस कल्पित आदर्श
तो हमारा काम जीवन की झंझटों में चलता नहीं। सुन्दर प्रति
मनभावन चाल और स्वच्छन्द प्रकृति—ये ही दो चार बातें देख
मित्रता की जाती है, पर जीवन-संग्राम में साथ देने वाले मित्रों में
कुछ अधिक बातें चाहिये। मित्र केवल उसे नहीं कहते जिसके
की तो हम प्रशंसा करें, पर जिससे हम स्नेह न कर सकें;
अपने छोटे-मोटे काम तो हम निकालते जायँ, पर भीतर ही
घृणा करते रहें। मित्र सच्चे पथ-प्रदर्शक के समान होना चाहिए
पर हम पूरा विश्वास कर सकें, भाई के समान होना चाहिये जिसे
अपना प्रीतिपात्र बना सकें। हमारे और हमारे मित्र के बीच स
सहानुभूति होनी चाहिए—ऐसी सहानुभूति जिससे दोनों मित्र
दूसरे का बराबर ध्यान रखा करें, ऐसी सहानुभूति जिससे
के हानि-लाभ को दूसरा अपना हानि-लाभ समझे। मित्रता के

यह आवश्यक नहीं है कि दो मित्र एक ही प्रकार का कार्य करते हों या एक ही रुचि के हों। इसी प्रकार प्रकृति और आचरण की समानता भी आवश्यक या वांछनीय नहीं है। दो भिन्न प्रकृति के मनुष्यों में बराबर प्रीति और मित्रता रही है। राम धीर और शान्त प्रकृति के थे, लक्ष्मण उग्र और उद्धत स्वभाव के थे, पर दोनों भाइयों में अत्यन्त प्रगाढ़ स्नेह था। उदार तथा उच्चाशय कर्ण और लोभी दुर्योधन के स्वभावों में कुछ विशेष समानता न था पर उन दोनों की मित्रता खूब निभी। यह कोई बात नहीं है कि एक ही स्वभाव और रुचि के लोगों ही में मित्रता हो सकती है। समाज में विभिन्नता देख कर लोग एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। जो गुण हम में नहीं है, हम चाहते हैं कि कोई ऐसा मित्र मिले जिसमें वह गुण हो। चिन्ताशील मनुष्य प्रफुल्लित चित्त मनुष्य का साथ ढूँढ़ता है, निर्बल बली का, धीर उत्साही का। उच्च आकांक्षा वाला चन्द्रगुप्त युक्ति और उपाय के लिये चाणक्य का मुँह ताकता था। नीति विशारद अकबर मन बहलाने के लिये बीरबल की ओर देखता था।

मित्र का कर्तव्य इस प्रकार बतलाया गया है—"उच्च और महाकार्यों में इस प्रकार सहायता देना, मन बढ़ाना और साहस दिलाना कि तुम अपनी निज की सामर्थ्य से बाहर काम कर जाओ।" यह कर्तव्य उसी से पूरा होगा जो दृढ़चित्त और सत्य-सङ्कल्प का हो। इससे हमें ऐसे ही मित्रों की खोज में रहना चाहिए जिनमें हम से अधिक आत्मबल हो। हमें उनका पल्ला उसी तरह पकड़ना चाहिये जिस तरह सुग्रीव ने राम का पल्ला पकड़ा था। मित्र हों तो प्रतिष्ठित और शुद्ध हृदय के हों, मृदुल और पुरुषार्थी हों, शिष्ट और सत्यनिष्ठ हों, जिससे हम अपने को उनके भरोसे पर छोड़ सकें और यह विश्वास कर सकें कि उनसे किसी प्रकार का धोखा न होगा। मित्रता एक नई शक्ति की योजना है। बर्क ने कहा है कि आचरण दृष्टान्त ही

मनुष्य जाति को पाठ पढ़ाता है जो कुछ वह उससे सीख सकता है, वह और किसी से नहीं।

संसार के अनेक महान् पुरुष मित्रों की बदौलत बड़े-बड़े कार्य करने में समर्थ हुये हैं। मित्रों ने उनके हृदय के उच्च भावों को सहारा दिया है। मित्रों ही के दृष्टान्तों को देख-देखकर उन्होंने हृदय को दृढ़ किया है। आहा! मित्रों ने कितने मनुष्यों के जीवन को साधु और श्रेष्ठ बनाया है। उन्हें मूर्खता और कुमार्ग के गड्ढों से निकाल कर सात्विकता के पवित्र शिखर पर पहुँचाया है। मित्र उन्हें सुन्दर मन्त्रणा और सहारा देने के लिए सदा उद्यत रहते हैं, जिनके सुख और सौभाग्य की चिंता वे निरन्तर करते रहते हैं। ऐसे ही मित्र होते हैं जो विवेक को जागरित करना और कर्तव्य-बुद्धि को उत्तेजित करना जानते हैं। ऐसे भी मित्र होते हैं जो टूटे जी को जोड़ना और लड़खड़ाते पाँवों को ठहराना जानते हैं। बहुतेरे मित्र हैं जो ऐसे दृढ़ आशय और उद्देश्य की स्थापना करते हैं जिनसे कर्मक्षेत्र में आप भी श्रेष्ठ बनते हैं और दूसरों को भी श्रेष्ठ बनाते हैं। मित्रता जीवन और मरण के मार्ग में सहारे के लिए है। यह सैर-सपाटे और अच्छे दिनों के लिये भी है तथा संकट और विपत्ति के बुरे दिनों के लिये भी है। यह हँसी-दिल्लगी के गुलछर्रों में भी साथ देती है और धर्म के मार्ग में भी। मित्रों को एक दूसरे के जीवन के कर्तव्यों को उन्नत करके उन्हें साहस, बुद्धि और एकता द्वारा चमकाना चाहिये। हमें अपने मित्र से कहना चाहिए—"मित्र! अपना हाथ बढ़ाओ। यह जीवन और मरण में हमारा सहारा होगा। तुम्हारे द्वारा मेरी भलाई होगी। पर यह नहीं कि ऋण मेरे ही ऊपर रहे, तुम्हारा भी उपकार होगा। जो कुछ तुम करोगे उससे तुम्हारा भी भला होगा। सत्यशील, न्याय और पराक्रमी बने रहो, क्योंकि यदि तुम चूकोगे तो मैं भी चूकूँगा। जहाँ जहाँ तुम जाओगे, मैं भी जाऊँगा। तुम्हारी बढ़ती होगी तो मेरी

...ही होगी। जीवन के संग्राम में धीरता के साथ लड़ो क्योंकि
...ही हार की जीत है।"

...का ऊपर लिखी में साधारण से चर्चा की गई है, वही ज्ञान
...ने वालों के सम्बन्ध में भी ठीक है। जो मनुष्य स्वतंत्रता से
...ी, उसे अपने मिलने-जुलने वालों के व्यवहार पर भी दृष्टि रखनी
...। उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि उनके बुद्धि और उनका
...ढ़ाने का है। साधारणतः हमें अपने ऊपर ऐसे प्रभावों
...पड़ने देना चाहिए जिनसे हमारा विवेचना की शक्ति मन्द हो या
...र या विवेक क्षीण हो। जीवन का उद्देश्य क्या है? क्या यह
...के लिये आयोजन का स्थान नहीं है? क्या यह तुम्हारे हाथ
...ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका लेखा तुम्हें परमात्मा को और
...आत्मा को देना होगा? सोचो तो कि दो चार, दस जितने
...हें दिए गए हैं, उन्हें तुम्हें देने वाले को पचास गुने सौ गुने
...लौटाने चाहिएँ अथवा ज्यों के त्यों बिना ब्याज या वृद्धि के।
...जीवन प्रहसन ही है जिसमें तुम गा-बजा कर और
...ही करके समय काटो, तब जो-कुछ उसके महत्त्व के विषय में
...ा है, सब व्यर्थ ही है। पर जीवन में गम्भीर बातें और विपत्ति
...भी हैं। मेरी समझ में तो महाराणा प्रताप की भाँति संकट
...काटना वाजिदअली शाह की भाँति भोग-विलास करने से अच्छा
...समझ में शिवाजी के सवारों की तरह चने बाँध कर चलना
...द के सवारों की तरह हुक्के और पानदान के साथ चलने
...ा है। मैं जीवन को न तो दुःखमय और न सुखमय बतलाना
...हूँ, बल्कि उसे एक ऐसा अवसर समझता हूँ जो हमें कुछ
...के पालन के लिये दिया गया है। हमारे सामने ऐसे बहुत
...ों के दृष्टांत हैं कि जिनके विचार भी महान् थे, कर्म भी महान्
...ता कि महात्मा डिमास्थिनीज़ ने एथेन्सवासियों से कहा था, उसी

प्रकार हमें भी अपने मन में समझना चाहिये कि
महान् पूर्व-पुरुषों की भाँति कर्म करने का अवसर न मिले,
कम से कम अपने विचार उनकी भाँति रखने चाहिये
आत्मा के महत्त्व का अनुकरण करना चाहिए।"
बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम कैसा साथ करते हैं।
जैसी हमारी संगत होगी वैसा हमें समझेंगी ही, पर हमें
भी संगत ही के अनुसार सहायता व बाधा पहुँचेगी।
अत्यन्त दृढ़ समझना चाहिए जिसकी चित्तवृत्ति पर
भी प्रभाव न पड़े जिनका बराबर साथ रहता है। पर
रखो कि यह कभी हो नहीं सकता। चाहे तुम्हें जान न
प्रभाव तुम पर बराबर हर घड़ी पड़ता रहेगा और उसी के
तुम उन्नत या अवनत होगे, उत्साहित और हतोत्साह होगे
विद्वान् से पूछा गया—"जीवन में किस शिक्षा की सबसे
आवश्यकता है?" उसने उत्तर दिया—"व्यर्थ की बातों
भी अनजान होना।" यदि हम जान पहचान करने में
काम लेंगे तो हमें बराबर अनजान बनना पड़ेगा।

महामति बेकन कहता है—"समूह का नाम संगत
जहाँ प्रेम नहीं है, वहाँ लोगों की आकृतियाँ चित्रवत् है
बातचीत झाँझ की झनकार है।" पहचान करने में हमें
से काम लेना चाहिए। जान पहचान के लोग ऐसे हों
कुछ लाभ उठा सकते हों, जो हमारे जीवन को उत्तम और
मय कराने में कुछ सहायता दे सकते हों यद्यपि उतनी नहीं
गहरे मित्र दे सकते हैं। मनुष्य का जीवन थोड़ा है, उस
के लिये समय नहीं। यदि क, ख और ग हमारे लिये कुछ
सकते, न कोई बुद्धिमानी या विनोद की बातचीत कर
न कोई अच्छी बात बतला सकते हैं, न अपनी

...देख सकते हैं, न हमारे आनन्द में सम्मिलित हो सकते ...हमें कर्त्तव्य का ध्यान दिला सकते हैं तो ईश्वर ही बचावे ...हैं। हमें अपने चारों ओर जड़ मूर्तियाँ सजाना नहीं है। ...कल जान पहचान बढ़ाना कोई बड़ी बात नहीं है। कोई भी युवा ...ऐसे अनेक युवा पुरुषों को पा सकता है जो उसके साथ थिये- ...देखने जायेंगे, सैर-सपाटे में जायेंगे, भोजन का निमन्त्रण स्वीकार ...गे। यदि ऐसे जान-पहचान के लोगों से कुछ हानि न होगी तो ...भ भी न होगा। पर यदि हानि होगी तो बड़ी भारी होगी। सोचो ...तुम्हारा जीवन कितना नष्ट होगा, यदि ये जान पहचान के लोग ...न मनचले युवकों में से निकले जिनकी संख्या दुर्भाग्यवश आजकल ...ढ़ रही है, यदि उन शोहदों में से निकले जो अमीरों की ...इयों और मूर्खताओं की नकल किया करते हैं, दिन-रात बनाव- ...गार में रहा करते हैं, महफिलों में 'ओ हो हो' 'वाह' 'वाह' किया ...ते हैं, गलियों में ठट्ठा मारते हैं और सिगरेट का धुआँ उड़ाते ...लते हैं। ऐसे नवयुवकों से बढ़कर शून्य निःसार और शोचनीय ...वन और किसका है? ये अच्छी बातों के सच्चे आनन्द से कोसों ...दूर हैं। उनके लिये न तो संसार में सुन्दर और मनोहर उक्ति वाले ...वि हुए हैं और न सुन्दर आचरण वाले महात्मा हुए हैं। उनके लिये ...न तो बड़े-बड़े वीर अद्भुत कर्म कर गए हैं और न बड़े-बड़े ग्रन्थ- ...कार ऐसे विचार छोड़ गए हैं जिनसे मनुष्य जाति के हृदय में सात्वि- ...कता की उमंगें उठती हैं। उनके लिए फूल पत्तियों में कोई सौन्दर्य ...नहीं, झरनों के कलकल में मधुर सङ्गीत नहीं, अनन्त सागर-तरङ्गों में ...गम्भीर रहस्यों का आभास नहीं, उनके भाग्य में सच्चे प्रयत्न और ...पुरुषार्थ का आनन्द नहीं; उनके भाग्य में सच्ची प्रीति का सुख और ...कोमल हृदय की शान्ति नहीं। जिनकी आत्मा अपने इन्द्रिय-विषयों ...में ही लिप्त है, जिनका हृदय नीच आशाओं और कुत्सित विचारों से ...कलुषित है, ऐसे नाशोन्मुख प्राणियों को दिन-दिन अन्धकार में पतित

होवे देख कौन ऐसा होगा जो शरम न खायगा ? जिसने सत्य का विचार अपने मन में ठान लिया हो, उसे ऐसे प्राणियों का न करना चाहिए। मकदूनिया का बादशाह डेमेट्रियस कभी-कभी का सब काम छोड़ अपने ही मेल के दस-पाँच साथियों को मस्त रहा करता था। एक बार बीमारी का बहाना करके इसी वह अपने दिन काट रहा था। इसी बीच उसका पिता उससे मिलने के लिये गया और उसने एक हँस-मुख जवान को कोठरी से निकलते देखा। जब पिता कोठरी के भीतर पहुँचा, तब डेमेट्रियस ने कहा—"ज्वर ने मुझे अभी छोड़ा है।" पिता ने कहा—"हाँ! है, वह दरवाजे पर मुझे मिला था।"

कुसंग का ज्वर सबसे भयानक होता है। यह केवल नीति और सद्वृत्ति का नाश नहीं करता, बल्कि बुद्धि का भी क्षय करता है। किसी युवा पुरुष की संगत यदि बुरी होगी, तो वह उसके पैर में बँधी चक्की के समान होगी जो उसे दिन-दिन अवनति के गड्ढे में गिराती जायेगी और यदि अच्छी होगी तो सहारा देने वाली बाहु के समान होगी जो उसे निरन्तर उन्नति की ओर उठाती जायेगी।

इंगलैंड के एक विद्वान् को युवावस्था में राजा के दरबारियों में जगह नहीं मिली। इससे जिन्दगी भर वह अपने भाग्य को सराहता रहा। बहुत से लोग तो इसे अपना बड़ा भारी दुर्भाग्य समझते, पर वह अच्छी तरह जानता था कि वहाँ वह बुरे लोगों की संगति में पड़ता जो उसकी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक होते। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनके घड़ी भर के साथ से भी बुद्धि भ्रष्ट होती है, क्योंकि उतने ही बीच में ऐसी-ऐसी बातें कही जाती हैं जो कानों में न पड़नी चाहिएं, चित्त पर ऐसे-ऐसे प्रभाव पड़ते हैं जिनसे पवित्रता का नाश होता है। बुराई अटल भाव धारण करके बैठती है। बुरी बातें हमारी धारणा में बहुत दिनों तक टिकती हैं। इस

अच्छा समाज यदि मिले तो उसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है और
उससे आत्मसंस्कार के कार्य में बड़ी सहायता मिलती है। प्रायः देखने
में आता है कि गाँव से जो लोग नगरों में जीविका आदि के लिये
आते हैं, उनका जी बहुत दिनों तक, संगी-साथी न रहने से, बहुत
घबराता है और कभी-कभी उन्हें ऐसे लोगों का साथ कर लेना पड़ता है
जो उनकी रुचि के अनुकूल नहीं होते। ऐसे लोगों के लिये अच्छा तो
यह होता है कि वे किसी साहित्य समाज में प्रवेश करें। पर वहाँ भी
उन्हें उन सब बातों की जानकारी नहीं प्राप्त हो सकती जो स्वशिक्षा के
लिये आवश्यक है। समाज में प्रवेश करने से हमें अपना यथार्थ मूल्य
विदित होता है। हम देखते हैं कि हम उतने चतुर नहीं हैं जितने
एक कोने में बैठकर कोई पुस्तक आदि हाथ में लेकर अपने को समझ
करते थे। भिन्न-भिन्न प्रकार के गुण होते हैं। यदि कोई एक बात में
निपुण है तो दूसरा दूसरी में। समाज में प्रवेश करके हम देखते हैं
कि इस बात की कितनी आवश्यकता है कि लोग हमारी भूलों को क्षमा
करें, अतः हम दूसरों की भूल-चूक को क्षमा करना सीखते हैं। हम
ठोकरें खाकर नम्रता और अधीनता का पाठ सीखते हैं। इनके अति-
रिक्त और भी बड़े बड़े लाभ होते हैं। समाज में सम्मिलित होने से
हमारी समझ बढ़ती है, हमारी विवेक बुद्धि तीव्र होती है, वस्तुओं और
व्यक्तियों के सम्बन्ध में हमारी धारणा विस्तृत होती है, हमारी सहा-
नुभूति गहरी होती है, हमें अपनी शक्तियों के उपयोग का अभ्यास होता
है। समाज एक रेढ़ है जहां हम चढ़ाई करना सीखते हैं, अपने साथि-
यों के साथ-साथ मिलकर बढ़ना और आज्ञा-पालन करना सीखते हैं, इससे
भी बढ़कर और और बातें जैसे दूसरों का ध्यान रखना, उनके लिये
स्वार्थत्याग करना सीखते हैं, सद्गुणों का आदर करना और सु-
चाल-ढाल की प्रशंसा करना सीखते हैं। स्वसंस्काराभिलाषी युवक को
उस चाल-व्यवहार की अवहेलना न करनी चाहिये जो भले आदमियों
के समाज में आवश्यक समझी जाती है। बड़ों के प्रति सम्मान

...न्नता का व्यवहार, बराबर वालों से प्रसन्नता का व्यवहार और छोटों
...प्रति कोमलता का व्यवहार भले-मानुसों के लक्षण हैं। सुडौल और
...दर वस्तु को देख कर हम सब लोग प्रसन्न होते हैं। सुन्दर चाल-
...ल को देख हम सब लोग आनन्दित होते हैं। मीठे वचनों को सुन
...र हम सब लोग सन्तुष्ट होते हैं। ये सब बातें हमें मनोनीत होती हैं,
...ा द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श के अनुकूल होती हैं। किसी भले आदमी
...यह कहते सुनकर कि फटी पुरानी और मैली पुस्तक हाथ में लेकर
...नहीं बनता, हमें हँसना न चाहिये। सोचो तो कि तुम्हारी मंडली
...ईं उजड्ड-गँवार आकर फूहड़ बातें बकने लगे तो तुम्हें कितना
...ा।

स्वर्गीय प्रेमचन्द

(श्री बनारसीदास चतुर्वेदी)

"मेरी आकांक्षायें कुछ नहीं हैं। इस समय तो सब से
आकांक्षा यही है कि हम स्व-राज्य-संग्राम विजयी हों।
या यश की लालसा मुझे नहीं रही। खाने भर को मिल ही जा
मोटर और बङ्गले की मुझे हविस नहीं। हाँ, जरूर चाहता हूँ कि
चार ऊँची कोटि की पुस्तकें लिखूँ, पर उनका उद्देश्य भी स्व
विजय ही है। मुझे अपने दोनों लड़कों के विषय में कोई बड़ी ला
नहीं है। यही चाहता हूँ कि वे ईमानदार, सच्चे और पक्के
के हों। विलासी, धनी-खुशामदी सन्तान से मुझे घृणा है। मैं
से बैठना भी नहीं चाहता। साहित्य और स्वदेश के लिये कुछ
करते रहना चाहता हूँ। हाँ, रोटी-दाल और तोला भर घी और
कपड़े मुयस्सर होते रहें।"

[प्रेमचन्द जी के ३-६-३० के प

"जो व्यक्ति धन-सम्पदा में विभोर और मग्न हो, उसके
पुरुष होने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। जैसे ही मैं
आदमी को धनी पाता हूँ, वैसे ही मुझ पर उसकी कला और बु
की बातों का प्रभाव काफ़ूर हो जाता है! मुझे ज्ञान पड़ता है
शख्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को—उस सामाजिक
को, जो अमीरों द्वारा गरीबों के दोहन पर अवलम्बित
लिया है। इस प्रकार किसी भी बड़े आदमी का नाम, जो ल

कृपापात्र भी हो, मुझे आकर्षित नहीं करता। बहुत मुमकिन है कि मेरे मन के इन भावों का कारण जीवन में मेरी निजी असफलता ही हो। बैंक में अपने नाम में मोटी रक़म जमा देख कर शायद मैं भी वैसा ही होता, जैसे दूसरे हैं—मैं भी प्रलोभन का सामना न कर सकता, लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि स्वभाव और क़िस्मत ने मेरी मदद की है और मेरा भाग्य दरिद्रों के साथ सम्बद्ध है। इससे मुझे आध्यात्मिक सान्त्वना मिलती है।"

प्रेमचन्द जी की याद आते ही उनके उपर्युक्त दोनों पत्रों का, जो ३॥ वर्ष के अन्तर पर लिखे गये थे, स्मरण हो आया। ये दोनों पत्र प्रेमचन्द जी के जीवन के उद्देश्यों और उनकी आकांक्षाओं को प्रकट करते हैं। यदि प्रेमचन्द जी ने सरकारी नौकरी न छोड़ी होती, तो वे डिप्टी इन्सपेक्टर आफ स्कूल्स अथवा असिस्टेण्ट होकर रिटायर होते, पर उन्होंने त्याग और तप का जीवन अङ्गीकार किया था और अपनी आकांक्षाओं को 'रोटी-दाल, तोला भर घी और मामूली कपड़े' पर ही परिमित कर लिया था। गरीबी के इस व्रत को ग्रहण करने के कारण ही वे हमारे साहित्य के लिये ऐसे अमर ग्रन्थ प्रदान कर गये, जिनकी वजह से हम आज अन्य भाषा-भाषियों के सन्मुख अपना मस्तिष्क ऊँचा कर सकते हैं।

इन पंक्तियों के लेखक पर प्रेमचन्द जी की कृपा थी, और वह अपने जीवन के पवित्रतम संस्मरणों में प्रेमचन्द जी की गणना करता है। सन् १६२४ की बात है। प्रेमचन्द जी के पहले-पहल दर्शन करने का सौभाग्य मुझे लखनऊ में प्राप्त हुआ था उन दिनों वे शायद 'रङ्ग-भूमि' नामक उपन्यास लिख रहे थे। उनके घर ही उपस्थित हुआ था और उनके साथ सड़कों पर कुछ दूर प्रातःकाल के समय टहला भी था। उस समय उन्होंने अपने बाल्यावस्था के, अनुभव, जब कि वे किसी मौलवी साहब से पढ़ते थे, सुनाये थे। प्रेमचन्द जी के एक गुण

प्रेमचन्द जी का ज़िक्र आया था। उर्दू के एक विद्वान् लेखक ने क
था "प्रेमचन्द जी तो उर्दू के Classic हो गये हैं। वे तो हमारे ही हैं।"

सी० ऐफ० ऐण्ड्रूज से प्रेमचन्द की चर्चा कई बार हुई थी।
उन्होंने प्रेमचन्द जी की एक कहानी 'तारा' के अँगरेजी अनुवा
Actress का संशोधन कर दिया था, और यह कहानी 'माडर्न रि
में भी छपी थी। मि० ऐण्ड्रूज प्रेमचन्द जी से मिलने को उत्सुक थे,
और उनके आदेशानुसार शान्ति-निकेतन से लिखा भी गया था कि वे
कलकत्ते पधारें, जहाँ मि० ऐण्ड्रूज स्वयं आ रहे थे, पर प्रेमचन्द
जी नहीं आ सके। मि० ऐण्ड्रूज प्रेमचन्दजी की कहानियों के अँगरेजी
अनुवाद के संशोधन करने के लिये और उनके प्रकाशित करने के
लिये तैयार थे। बात दरअसल यह थी कि प्रेमचन्दजी अपनी रचनाओं
के अनुवाद के विषय में बिलकुल उपेक्षा की नीति से काम लेते थे। मैं
उनकी इस नीति का घोर विरोधी था। मैंने उनकी सेवा में निवेदन
भी किया था कि आपकी रचनाओं का अँगरेजी अनुवाद आपको
कीर्ति देने के लिये नहीं, बल्कि सभ्य जगत् के सम्मुख हिन्दी वालों
का गौरव बढ़ाने के लिये होना चाहिए। पत्र के उत्तर में उन्होंने
लिखा था—

"आपके पत्र के लिये और आप मेरी रचनाओं से जो दिलचस्पी
लेते हैं, उसके लिये मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूं, लेकिन जब तक कु
कोई सुयोग्य अनुवादक न मिल जाये तब तक पादरी ऐण्ड्रूज साह
को व्यर्थ के लिए तकलीफ़ देना ठीक न होगा। शायद अभी इस
लिये वक्त ही नहीं आया और जब कभी वक्त आवेगा, तो अनुवा
भी कहीं न-कहीं से निकल ही आवेंगे।"

यह असम्भव है कि प्रेमचन्द जी की चुनी हुई रचनाओं
अनुवाद अँगरेजी में न हों, क्योंकि वर्तमान भारतीय समाज का जै
जीता-जागता चित्र उनकी रचनाओं में मिलता है, वैसा ही अन्य

[illegible] हो लिये। कभी-कभी अँगरेजी जानने वाले [illegible] प्रेमचन्द जी से रचनाओं का [illegible] अपनी भाषा में [illegible] का प्रयत्न करेंगे पर यह मौलिकता [illegible] प्रेमचन्द [illegible] तो सिर्फ [illegible] होगी।

यद्यपि प्रेमचन्द जी अपनी रचनाओं के अँगरेजी अनुवाद के विषय में उदासीन थे, पर अँगरेजी जनता के सम्मुख हिन्दी वालों की रचनाएँ तथा [illegible] के प्रकाशन को आवश्यक समझते थे। (एक बार [illegible] जी के मकान पर [illegible] का [illegible]-अभिनन्दनोत्सव का अवसर था) उन्होंने मुझे आदेश दिया था कि [illegible] इत्यादि पत्रों में इस विषय पर लिखा करो।

* * * *

प्रेमचन्द जी दिल खोलकर प्रशंसा करते थे और दिल खोलकर निन्दा भी। ऐसे अवसरों पर अपनी लेखनी पर संयम रखना उन्हें पसन्द नहीं था। इस विषय में स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंह शर्मा की नीति का अवलम्बन करते थे। स्वर्गीय शर्मा जी की पुस्तक 'पद्मपराग' की आलोचना करते हुए मैंने 'विशाल भारत' में लिखा था—"हमारा विश्वास है कि कठोर शब्द अन्त में अपने उद्देश्य में विफल होते हैं। उनके प्रयोग से इस बात की आशङ्का रहती है कि कहीं असाधारण कठोरता के कारण पाठक की सहानुभूति उस व्यक्ति के प्रति न हो जाये, जिसके प्रति उन शब्दों का प्रयोग किया गया है।"

इसका उत्तर देते हुए शर्मा जी ने लिखा था—"मुझे डर है कि ये लोग—मनावर्द्धी-शान्ति के लक्ष्य के भक्त लोग—गांधीपन्थी—वीर, रौद्र और भयानक रसों का सर्वथा लोप करना चाहते हैं, जो एक दम असम्भव और अव्यवहार्य है। किसी अत्याचारी, नृशंस और क्रूर आदमी की करतूत पर क्रोध और घृणा आना स्वाभाविक धर्म है फिर उसे प्रकट करना क्यों अधर्म है! यह तो एक तरह की नज़री है कि

किसी दुष्ट पर क्रोध तो आये इतना कि वह बेताब करदे, पर उसे शब्दों में प्रकट न किया जाय ! ऐसा न आज तक हुआ है, न आगे होगा साहित्य में नव रस सदा से रहे हैं और सदा रहेंगे। भेड़ियों के आगे हाथ-पाँव बाँध कर पड़ रहने का मूर्खतापूर्ण अहिंसात्मक मत किसी काल में व्यवहार्य नहीं समझा जा सकता है। यह मत आर्य-संस्कृति के विरुद्ध है। अस्तु आपका निष्पक्ष फैसला सुनकर भी मेरी यही राय है कि दुष्ट, धूर्त और लोकवञ्चक लोगों की जितनी कड़ी भर्त्सना की जाय, उचित है, विहित है। अपने विरुद्ध फैसला सुन कर भू भ्रमण-वादी गैलेलियो ने जज से कहा था—'आपका फैसला सुन कर भी वह कम्बख्त (भूमि) बराबर वसी तरह घूम रही है, आप से तो नहीं रुकी।' आपका फैसला सुनकर मैं भी यही अर्ज करता हूँ। जनाब ! धूर्त और नृशंस व्यक्ति की पोल खोलना, शब्दों के लगाना, आज से हज़ार बरस बाद विहित समझा जायगा, ज़रा भी फर्क नहीं आयगा। आप लोगों के इस क्लीव क्रन्दन शान्ति-पाठ को—कोई न सुनेगा।"

जब श्रीयुत प्रेमचन्द जी को मैंने एक लेख की कठोरता के विषय में लिखा तो उन्होंने उत्तर में वैसे ही भाव प्रकट किये, जो शर्मा जी के पत्र में हैं, पर स्वर्गीय शर्मा जी तथा प्रेमचन्द जी के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी अब भी मेरा यही विश्वास है कि कठोर शब्दों का प्रयोग न करना ही अच्छा है। एक बार प्रेमचन्द जी ने फिर शब्दों का प्रयोग किया, तो मैंने फिर उनकी सेवा में निवेदन किया। अब की बार वे मेरी बात से कुछ-कुछ सहमत हो गये। उन्होंने पत्र में लिखा था—

"आपकी अत्यन्त मित्रतापूर्ण सलाह के लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। उस व्यक्ति के प्रति मेरे हृदय में कोई विद्वेष नहीं है, मैं उसके लिये दुःखित हूँ, पर मुश्किल तो यह है कि हिन्दी पाठक

ते हैं और सदसद्विवेक-बुद्धि की उनमें इतनी कमी है कि जो कुछ
के कानों में कोई डाल दे, वे उसी पर विश्वास करने के लिये तैयार
रहते हैं। हिन्दी पाठकों को तो यह निरन्तर बतलाने की ज़रूरत
है सत्य क्या है, लेकिन भविष्य में अधिक संयम से काम लूंगा।"

जब 'हंस' भारतीय साहित्य-परिषद् का पत्र बना दिया गया, तो
चन्द जी ने छपे हुए सूचना पत्र को भेजते समय उस पर लाल
ही से लिख भेजा—

"मुन्शी जी (श्री कन्हैयालाल मुन्शी) ने तो आपको पत्र लिखे ही
अब मेरा सवाल है—

"फकीर का सवाल है सभी के ऊपर,
जुलुम ना जियादती किसी के ऊपर।"

'हंस' के विषय में उन्होंने बहुत पत्र हिंदी और उर्दू-लेखकों को
दिये। उर्दू-लेखकों ने तो सहृदयता पूर्वक अनेक पत्रों का स्वागत
और उत्तर भी दिये, पर हिन्दी के महारथियों ने जो कुछ किया,
उन्हीं के शब्दों में सुन लीजिये—

"उर्दू-लेखकों ने तो मेरे निमंत्रण का तुरन्त ही और विनम्रतापूर्वक
ब दिया है, लेकिन जो बहुत-सी चिट्ठियाँ मैंने हिन्दी के महारथियों
सेवा में भेजी थीं, उनमें बहुत कम के जवाब आये हैं। अकेले
मैथिलीशरण जी ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने उत्तर दिया है, दूसरों
चिट्ठी की स्वीकृति भी नहीं लिखी। हमारे हिन्दी-लेखकों की यह
वृत्ति है।"

'जागरण' के मज़ाक के कालमों में दो-एक बातें मेरे खिलाफ़ निकल
थी। मैंने उनकी शिकायत की। उसके उत्तर में प्रेमचन्द जी ने
बड़ा प्रेमपूर्ण तथा उपदेशप्रद पत्र लिख भेजा था। उस पत्र के

प्रशंसामय अंकों को छोड़ कर कुछ बातें यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा—

'जब कभी मौका पड़ा है, मैं हमेशा आपका पक्ष लेकर लड़ा हूँ और मैंने आपको उसी दृष्टि से लोगों के सम्मुख उपस्थित करने का प्रयत्न किया है, जिस दृष्टि से मैं आपको देखता हूँ। मैं इस बात से इनकार नहीं करता कि साहित्य-सेवियों में कुछ लोग ऐसे हैं, जो आप को बदनाम करते हैं और आपकी ईमानदारी को भी मानने को तैयार नहीं होते। इतना ही नहीं, कुछ महानुभाव तो इससे भी आगे बढ़ गये हैं, लेकिन कौन व्यक्ति ऐसा है, जिसके छिद्रान्वेषी न हों ? मैं स्वयं निन्दकों से घिरा हुआ हूँ, जो मुझ पर हमला करने का कोई मौका नहीं चूकते। दुर्भाग्यवश हमारे साहित्यकारों में न तो विचारों की व्यापकता—उदारता है और न सहयोग की भावना। हमारे यहाँ एक दल ऐसा पैदा हो गया है, जिसे दूसरों की वर्षों के परिश्रम से अर्जित कीर्ति को मटियामेट करने में ही मजा आता है। हमें अपनी आत्मा को पवित्र रखना चाहिये और यही सब से बड़ी बात है। जान पड़ता है कि आप मजाक के छींटों को प्रायः गम्भीर मान बैठते हैं... लेकिन जब कभी कोई किसी के उद्देश्य को ही कलुषित बताने लगता है, तब मामला गम्भीर हो जाता है। किसी के उद्देश्य पर शक करने को मैं किसी भी हालत में सहन नहीं कर सकता। निर्दोष छींटों की आपको परवाह न करनी चाहिये। यदि आप इतने असहनशील हो जायँगे, तब तो आप अपने निन्दकों को और भी उत्साहित करेंगे कि वे आप की पीठ में काँटे चुभोयें। खिले हुए चेहरे से आप उन लोगों का सामना कीजिये। एक जमाना था, जब किसी अमित्रतापूर्ण इशारे से मुझे कई-कई रात नींद न आती थी, लेकिन वह जमाना गुजर चुका है और अब मैं अपने आपको ज्यादा अच्छी तरह समझता हूँ।"

मैं एक लेख लिखना चाहता था—'भविष्य किनका है ?' और

ने लेख में हिन्दी के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के प्रतिभाशाली कार्य-
र्ताओं का संक्षिप्त परिचय देना चाहता था। इस विषय पर मैंने
मचन्द जी की सम्मति पूछी थी, सो उन्होंने विस्तारपूर्वक लिख
दी थी। उसे हम 'विशाल भारत' के किसी अगले अङ्क में उद्धृत
रेंगे।

× × × ×

सन् १९३० में मैंने एक पत्र में उनसे बहुत से प्रश्न किये थे।
नमें कुछ प्रश्न ये हैं—(१) आपने गल्प लिखना कब प्रारम्भ किया
? आपकी सर्वोत्तम पन्द्रह गल्पें कौन कौन हैं ? (२) आप पर किस
लेखक की शैली का प्रभाव विशेष पड़ा ? (३) आपको अपनी रचनाओं
से अब तक कितनी आय हुई है ? इन प्रश्नों के उत्तर में प्रेमचन्द जी
लिख भेजा था—

"(१) मैंने १९०७ में गल्प लिखना शुरू किया। सबसे पहले १९०८
में मेरा 'सोजेवतन' जो पाँच कहानियों का संग्रह है, ज़माना प्रेस से
निकला था, पर उसे हमीरपुर के कलक्टर ने मुझसे लेकर जला डाला
था। उनके ख्याल में वह विद्रोहात्मक था, हालांकि तब से उसका
अनुवाद कई संग्रहों और पत्रिकाओं में निकल चुका है।

(२) इस प्रश्न का जवाब देना कठिन है। २०० से ऊपर गल्पों में
कहाँ तक चुनूँ, लेकिन स्मृति से काम लेकर लिखता हूँ—(१) बड़े
घर की बेटी, (२) रानी सारन्धा (३) नमक का दारोगा, (४) सौत,
(५) आभूषण, (६) प्रायश्चित (७) कामना, (८) मन्दिर और मस्जिद
(९) पासवाली, (१०) महातीर्थ, (११) सत्याग्रह, (१२) लांछन, (१३)
सती, (१४) लैला और (१५) मन्त्र।

(३) मेरे ऊपर किसी विशेष लेखक की शैली का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। बहुत कुछ पं० रतननाथ दर लखनवी और कुछ-कुछ रवीन्द्रनाथ ठाकुर का असर पड़ा है।

(४) आय की कुछ न पूछिये। पहले की सब किताबों का अधिकार प्रकाशकों को दे दिया। 'प्रेम-पचीसी', 'सेवा-सदन', 'सप्त सरोज', 'प्रेमाश्रम', 'संग्राम', आदि के लिये एक मुश्त तीन हजार रुपये हिन्दी-पुस्तक एजेन्सी ने दिये। 'नव-निधि' के लिये शायद अब तक २००) मिले हैं। 'रङ्गभूमि' के लिये १८००) दुलारेलाल जी ने दिये और संग्रहों के लिये दो सौ मिल गये। 'कायाकल्प', 'प्रेम कथा', 'प्रेमतीर्थ', 'प्रेम-प्रतिमा', 'प्रतिज्ञा' मैंने खुद छापीं, पर मुश्किल से ६००) रुपये वसूल हुये हैं, और प्रतियां पड़ी हुई हैं। फुटकल आमदनी लेखों से शायद २५ रु० माहवार हो जाती हो, इतनी भी नहीं होती। मैं अब इस ओर 'माधुरी' के सिवा लिखता ही नहीं। कभी-कभी 'विशाल भारत' और 'सरस्वती' लिखता हूँ। सब उर्दू-अनुवादों से भी अब तक शायद दो हजार अधिक न मिला होगा। ८००) में 'रङ्गभूमि' और 'प्रेमाश्रम' दोनों अनुवाद दे दिया था। कोई छापने वाला ही न मिलता था।"

'हंस' और 'जागरण' में प्रेमचंद जी को निरन्तर घाटा होता रहा, और कभी-कभी तो यह घाटा दो सौ रुपये महीने से अधिक का हो जाता था। इसके कारण वे अत्यन्त चिन्तित रहते थे।

"खेद की बात है कि मेरा कोई भी प्रयत्न अब तक स्वावलम्बी नहीं हो सका। 'हंस' में मुझे बहुत नहीं खर्च करना पड़ा लेकिन 'जागरण' का बोझ असह्य हो रहा है। इस झंझट से निकला कैसे जाय, इसी चिन्ता में दिमाग चक्कर खा रहा है। मैं करीब

[illegible] कर रहा हूँ। यह सब सब कर सकता हूँ,
पर मुझे [illegible] करने की सूझना कर [illegible]
[illegible] करने में मेरी बुद्धि बाधक होती है। [illegible] लोग इस [illegible]
[illegible] और [illegible] करायेंगे ?......यदि मुझमें इन दोनों पक्षों को
[illegible] देने की हिम्मत होती, तो मैं इन तमाम परेशानियों से बच
[illegible] लेकिन मैं इतनी हिम्मत इकट्ठी नहीं कर पाता।"

मेरी यह आकांक्षा कि कभी प्रेमचन्द जी और कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ एक साथ बैठे हुए सुनूँ, मन की मन में ही रह गई। प्रेमचन्द जी को शान्ति-निकेतन बुलाने के लिये कई बार प्रयत्न किया, पर मुझे यह आशंका हो गई थी कि उन्होंने जान-बूझकर मेरे निमंत्रण की उपेक्षा की है। जब काशी में जाकर मैंने उनसे पूछा कि आप शान्ति-निकेतन क्यों नहीं आये, तब उन्होंने बतलाया कि वे धर्मपत्नी तथा बच्चों को छोड़कर अकेले कविवर के दर्शनार्थ नहीं आना चाहते थे; और इतना पैसा उनके पास था नहीं कि सब की यात्रा का प्रबन्ध कर सकते। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कलाकार की इस आर्थिक परिस्थिति को सुनकर मुझे हार्दिक दुःख हुआ था। उस समय मैंने 'विशाल भारत' में लिखा था—

'प्रेमचन्द जी को अपनी पुस्तकों से जो आमदनी होती है उसका एक अच्छा भाग 'हंस' और 'जागरण' के घाटे में चला जाता है। कितने ही पाठकों का यह अनुमान होगा कि प्रेमचन्दजी अपने ग्रन्थों के कारण धनवान हो गए होंगे, पर यह धारणा सर्वथा भ्रमात्मक है। हिन्दी वालों के लिये सचमुच यह कलंक की बात है कि उनके सर्वश्रेष्ठ कलाकार को आर्थिक संकट बना रहता है। सम्भवतः इसमें कुछ दोष प्रेमचन्दजी का भी है, जो अपनी प्रबन्ध शक्ति के लिये प्रसिद्ध नहीं और जिनके व्यक्तित्व में वह लौह-दृढ़ता भी नहीं, जो उन्हें साधारण

कोटि के आदमियों का शिकार बनने से बचा सके। कुछ भी हो,
हिंदी-जनता अपने अपराध से मुक्त नहीं हो सकती। हमें इस बात
आशंका है कि आगे चलकर हिंदी-साहित्य के इतिहास लेखक को
यह न लिखना पड़े—'देव ने हिंदी-वालों को एक उत्तम कलाकार
था, जिसका उचित सम्मान वे न कर सके।' ये पंक्तियाँ उन्हों
१६३८ में लिखी गई थीं। दुर्भाग्यवश ये सत्य प्रमाणित हो रही

हो जाता है। रोगी कुनीन खा खाकर हार गया था, अब बिल्कुल
चङ्गा है। भिड़, बिच्छू आदि विषैले जीव-जन्तुओं के दंश के
जादू-टोने का विश्वास ऐसे सम्यक् रूप से दमन करता है कि
आश्चर्य होता है। आकस्मिक आवेग के धक्के से या साधु की
पर अक्षुण्ण विश्वास के बल से अंधे देखने लगते हैं, लंगड़े बिना
लम्ब के चलने लगते हैं, और लूले पट्टियाँ खोल देते हैं। ग्रोटो
लार्ड्स (Grotto of Lourdes) के सामने उन लंगड़े-लूले लो
बैसाखियों और लाठियों का ढेर लगा हुआ है, जो उस पर विश्वा
कारण ही निरोग हो चुके हैं। धार्मिक विश्वास ने ऐसे-ऐसे अलौ
कार्य किये हैं कि जो भौतिक विज्ञान की समझ से परे हैं।

धार्मिक आवेग को अलग रखकर, विश्वास की शक्ति से रोग-
का काम लिया जाने लगा है। अमेरिका के चिकित्सक प्रायः प्र
इसका उपयोग करते हैं। हिस्टीरिया के कारण अन्धे हो जाने
लोगों की मानसिक चिकित्सा को तो वैज्ञानिक चिकित्सा शास्त्र
स्वीकार कर लिया है।

स्मरण रखना चाहिये कि हिस्टीरिया (योषोन्माद) के
मनुष्य की देखने की शक्ति उतनी ही जाती रहती है, जितनी कि
या मस्तिष्क के अनेक आंगिक रोगों के कारण। जितना प्रायः
जाता है, उससे कहीं अधिक यह रोग पाया जाता है। यह यु
धार्मिक मन्दी जैसे मानसिक या शारीरिक दबाव के दिनों में ब
में बढ़ जाता है।

योषोन्माद के कारण दृष्टिहीन हो जाने वाले व्यक्ति के
बहुधा कोई "असह्य स्थिति" उपस्थित हो जाया करती है।
या व्यापार में कोई ऐसी अरुचिकर समस्या था खड़ी होती है

कारण नहीं मिलता। अतएव अन्त को पति और पत्नी दोनों को एक छोटे से कमरे में ले जाया जाता है, जहाँ एक नवयुवक डाक्टर उनसे बातचीत करता है। यह अकपट, गम्भीर और सरल है। श्रीमती रुक्मिणी डाक्टर को देख नहीं सकती, परन्तु उसकी वाणी में वह एक ऐसा सुर अनुभव करती है जो उसे शान्त करता है। वह उसे कह रहा है कि आप फिर देखने लगेंगी, गरम चाय के छींटे से आपकी आँखों के सामने एक महीन झिल्ली सी पैदा हो गई है जिससे आपकी दृष्टि बन्द हो गई है। यह झिल्ली आसानी से दूर हो सकती है। (इस समय डाक्टर की वाणी में एक शान्त निश्चयता रहती है। इसके लिये एक जलता हुआ सूक्ष्म यन्त्र आँखों को लगाना पड़ेगा। दुर्भाग्यवश इस आपरेशन से तकलीफ तो होती है परन्तु पीड़ा केवल १५ मिनट रहती है, इसके पश्चात् आपकी आँखें बिलकुल ठीक हो जायेंगी। वह प्रतिवाद करती हुई कहती है कि यदि मेरी आँखें अच्छी हो जायँ तो थोड़ी पीड़ा की मैं कुछ परवा नहीं करती और उस का पति पश्चात्ताप करता हुआ उल्लासपूर्वक कहता है कि मैं आज से शपथ लेता हूँ कि मैं फिर कभी इससे लड़ा नहीं हूँगा।

थोड़ी सी प्रारम्भिक तैयारी के बाद, डाक्टर होले से आँखों की पलकें उलटता है और कूची के साथ उन पर वही कोकेन लगा देता है जो सूजी हुई पलकों की चिकित्सा में लगाया जाता है। इस दवाई से जलन होती है और आँखें अनिच्छा पूर्वक कस कर बन्द हो जाती हैं। आँखों के ऊपर रुई या गाज की गद्दियाँ रख दी जाती हैं। रोगी इस समय पीड़ा से तिलमिला रहा होता है। उसे कहा जाता है कि गद्दियों को कुछ मिनट रखी रहने दो, इससे पीड़ा शान्त हो जायगी। आपरेशन हो चुका है। श्रीमती रुक्मिणी को कह दिया जाता है कि जब पीड़ा शान्त हो जाय तो आँखें खोल लेना। उसे हिदायत दी जाती है कि आँखें धीरे २ खोलना, क्योंकि एक दम प्रकाश के

को यहाँ तक नौबत आ पहुँची कि वह केवल सीधा ही देख सकता था,
जैसे कोई बन्दूक की नाली में से देख रहा हो। इसके बाद, उसे उस
दीखना भी बन्द हो गया। उस समय से वह दिन और रात में भी भे
नहीं कर सकता था। वह अच्छा धनी मनुष्य है। एक बड़ी कम्पनी
बोर्ड आफ डायरेक्टर्स का चेयरमैन है। पता लगा है कि जब तक व
अंधा नहीं हुआ था तब तक वह अपने काम में बहुत अधिक परि
किया करता था, इस रोग के भीषण आक्रमण के समय उससे उस
कम्पनी के डाइरेक्टर की चेयरमैनी छिनने को थी।

अनेक डाक्टरों ने उसे देखा है, परन्तु कोई भी उसकी
सहायता नहीं कर सका। उसके मित्र उसे टोना-जादू से इ
कराने वाले ओझों के पास ले गये हैं। परन्तु वह नास्तिक है और
बातों को बिलकुल नहीं मानता। दो मौकों पर उसे स्पष्ट कह दिया
है कि तुम्हारी बीमारी का कारण क्षोभोन्माद (हिस्टीरिया) है
वह इसे सत्य भी मानता है।

जाँच करने पर पता लगा है कि जब प्रकाश-किरण
आँखों में डाली जाती है तो उसकी पुतलियाँ तेज़ी से और स्वाभ
रीति से सिकुड़ जाती हैं। परन्तु वह धूप और छाँह में भेद नहं
सकता। किसी न किसी प्रकार कोई प्रकाश उत्तेजना, उसके मस्ति
उच्चतर केन्द्रों में अवश्य पहुँचता है, परन्तु वहाँ पहुँचकर भ
सचेतन (Coins mind) में अङ्कित नहीं होता।

श्रीयुत रोशन एक विवेकी और तर्क-प्रिय व्यक्ति हैं।
चिकित्सा फिर उसी ढंग से क्यों न की जाय? उसकी व्या
स्वरूप उसे साफ-साफ, बिना लाग-लपेट के समझा दिया जा
वह अन्धा इस कारण नहीं कि उसको देखने की इन्द्रिय में
रोग है, वरन् इसलिये कि उसकी आँख हिस्टीरिया के कारण
काम ठीक तरह से नहीं करती। उसके मस्तिष्क में कहीं एक

प्रकार बन गया है, जिससे उसकी आँखों से नशे जैसे स्वाभाविक ऐसे प्रकाश की रश्मियाँ सी चली जाती हैं। इसको दूसरा प्रकार से देखना एक रीति है। किसी आसन से कुछ समय के लिए सभी मानसिक और इन्द्रियानुभूति-सम्बन्धी ज्ञान बन्द कर एक धार्मिक ईथर अनस्थीसिया (Ether anesthesia) के द्वारा या काम लौकिक रीति से हो सकता है। केवल निद्रा ही पर्याप्त नहीं, क्योंकि निद्रा में मनुष्य स्वप्न देखता, इधर-उधर हिलता-डुलता और अनुभव कर सकता है। एक बार उसकी मानसिक क्रियाओं या पूर्णरूप से बन्द कर देने पर, फिर उसको सुधार मन्दगति से और उचित मार्गों पर चलना ही शेष रह जाता है।

इस बातचीत में डाक्टर का कोई विश्वास नहीं। अधिक-से-अधिक इतना कहा जा सकता है कि जटिल और अतीव अनिश्चित अवस्था का यह भद्दा समाधान है। जहाँ तक रोगी का सम्बन्ध है, उसे इस बात का इंगित तक भी न होना चाहिए। श्रीयुत रोशन को इस बात का अक्षुण्ण विश्वास रहना चाहिये कि डाक्टर को इस चिकित्सा-पद्धति की सफलता का ज्ञान है। इसमें किसी प्रकार के दुराव या कपट की आवश्यकता नहीं। डाक्टर जानता है कि मैं उसे चंगा करने में सफल हो सकता हूँ।

अच्छे खासे उत्साह के साथ श्रीयुत रोशन ईथर मास्क (नक़ाब) पहन लेता है और चुपचाप सो जाता है। दोनों आँखों पर भारी-भारी पट्टियाँ मज़बूती से बाँध दी जाती हैं और रोगी को उसके कमरे में वापस भेज दिया जाता है। वहाँ उसे धीरे-धीरे जागने दिया जाता है।

डाक्टर अगले दिन उसे देखने आता है, उसका कमरा प्रफुल्ल और उज्ज्वल बना दिया गया है। उसमें एक दो नर्सें हैं। डाक्टर

उनसे बातें कर रहा है और उधर उसका ड्रेसिंग ट्रे तैयार हो रहा है। उसकी चाल-ढाल से विश्वास और निश्चय टपकता है। वह श्री रोशन से कहता है कि अब पट्टियाँ खोल दी जायँगी, परन्तु जब तक खोलने के लिए न कहूँ, तब तक आँखें बन्द रखना। फिर जब पट्टियाँ खोली जाती हैं तो उसे देखने के लिए कोई अनुरोध नहीं किया जाता, उसके मानसिक आवेगों को उकसाया नहीं जाता, केवल शान्त विश्वास दिलाया जाता है। तब, उसके सामने घड़ी रखकर, डाक्टर पूछता है—

"श्री रोशन, कितने बजे हैं ?"
"साढ़े आठ, डाक्टर जी।"
"ठीक !"

बस, कोई आश्चर्य नहीं प्रकट किया जाता, कोई हर्ष की असाधारण अभिव्यक्ति नहीं होती। वस्तुतः आश्चर्य का कोई कारण भी नहीं, यह तो केवल इस चिकित्सा में दृढ़ विश्वास का ही सारा परिणाम है। यहाँ भी विश्वास ने एक मनुष्य प्राणी को स्वाभाविक जीवन बिताने में नये सिरे से समर्थ कर दिया है।

नेत्रों को दुबारा देखने की शक्ति प्राप्त हो जाने के बाद इन लोगों की क्या दशा होती है ? क्या ये बीमारी के पहले की तरह सब काम स्वाभाविक रीति से करने लगते हैं, या उनको दुबारा अन्धे हो जाने का डर सदा बना रहता है ? अनेक लोगों की अवस्थाओं में से फिर तकलीफ नहीं हुई। कुछ एक दुबारा थोड़े बहुत अन्धे हो गये हैं परन्तु उनके रोग का यह दूसरा दौरा आसानी से शान्त कर दिया गया है। बच्चों में, विशेषतः १० या १२ वर्ष की आयु की लड़कियों में इस प्रकार की अन्धता बहुत देखी जाती है। इसको चङ्गा करना बड़ा कठिन है, परन्तु असाध्य नहीं।

यह एक बड़ी विचित्र बात है कि अधिकांश अवस्थाओं में

हमारे साहित्य का ध्येय

(पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला')

आज हमारे साहित्य को देश तथा साहित्यिकों के समाज में वह महत्त्व नहीं, जो उसे राजनीति के वायु-मण्डल में रहने वालों में जन्म सिद्ध अधिकार के रूप से प्राप्त है। इसी लिए हमारे [illegible] कार्य-क्रम को क्रियात्मक रूप देता है। एक साहित्यिक जब राजनीति को साहित्य से अधिक महत्त्व देता है, तब वह साहित्य की यथार्थ मर्यादा अपनी एकदेशीय भावना के कारण घटा देता है, जो उन्नति और स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए, शरीर के तमाम अङ्गों की पुष्टि की तरह समभाव से आवश्यक है।

राजनीति में उन्नति-क्रम के जो विचार गणित के अनुसार प्रत्येक दशा की गणना कर सम्पत्तिवाद के क़ायदे से कल्पना द्वारा देश का परिष्कृत रूप खींचते हुए चलते हैं, वही साहित्य में प्रत्येक व्यक्ति के इच्छित विराम को निर्बन्ध कर उनकी बहुमुखी उच्चाभिलाषाओं को पूर्णता तक ले चलते हुए समष्टिगत पूर्णता या बाह्य सिद्ध करते हैं।

हमारे साहित्य का ध्येय

(पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला')

आज हमारे साहित्य को देश तथा साहित्यिकों के समाज ने वह महत्त्व नहीं, जो उसे राजनीति के वायु-मण्डल में रह वालों में जन्म सिद्ध अधिकार के रूप से प्राप्त है। इसी लिए हमा देश के अधिकांश प्रान्तीय साहित्यिक राजनीति से प्रभावित हो हैं। यह सच है कि इस समय देश की दशा के सुधार के लिए का करी सभी राष्ट्र-नीति की अत्यन्त आवश्यकता है, पर यह भी सच कि देश में नवीन संस्कृति के लिये व्यापक साहित्यिक ज्ञान भी उ हद तक जरूरी है। उपाय के विवेचन में वही युक्ति है, जो राजनीति कार्य-क्रम को क्रियात्मक रूप देती है। एक साहित्यिक जब राजनी को साहित्य से अधिक महत्त्व देता है, तब वह साहित्य की यथ मर्यादा अपनी एकदेशीय भावना के कारण घटा देता है, जो उन्न और स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए, शरीर के तमाम अङ्गों की पुष्टि तरह समभाव से आवश्यक है।

राजनीति में उन्नति-क्रम के जो विचार गणित के अनुम प्रत्येक दशा की गणना कर सम्पत्तिवाद के क़ायदे से कल्पना द्व देश का परिष्कृत रूप खींचते हुए चलते हैं, वही साहित्य में प्रत्ये व्यक्ति के इच्छित विकास को निर्बन्ध कर उनकी बहुमुखी अ भिलाषाओं को पूर्णता तक ले चलते हुए समष्टिगत पूर्णता या ब . .. सिद्ध करते हैं।

हमारे साहित्य का ध्येय

(पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला')

आज हमारे साहित्य को देश तथा साहित्यिकों के समाज में वह महत्त्व नहीं, जो उसे राजनीति के वायु-मण्डल में रहने वालों में जन्म सिद्ध अधिकार के रूप से प्राप्त है। इसी लिए हमारे देश के अधिकाश प्रान्तीय साहित्यिक राजनीति से प्रभावित हो रहे हैं। यह सच है कि इस समय देश की दशा के सुधार के लिए कार्य-करी सभी राष्ट्र-नीति की अत्यन्त आवश्यकता है, पर यह भी सच है कि देश में नवीन संस्कृति के लिये व्यापक साहित्यिक ज्ञान भी उसी हद तक जरूरी है। उपाय के विवेचन में वही युक्ति है, जो राजनीतिक कार्य-क्रम को क्रियात्मक रूप देता है। एक साहित्यिक जब राजनीति को साहित्य से अधिक महत्त्व देता है, तब वह साहित्य की यथार्थ मर्यादा अपनी एकदेशीय भावना के कारण घटा देता है, जो उन्नति और स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए, शरीर के तमाम अङ्गों की पुष्टि की तरह समभाव से आवश्यक है।

राजनीति में उन्नति-क्रम के जो विचार गणित के अनुसार देश की गणना कर सम्पत्तिवाद के क़ायदे से कल्पना द्वारा का परिष्कृत रूप खींचते हुए चलते हैं, वही साहित्य में प्रत्येक व्यक्ति के इच्छित विकास को निर्बन्ध कर उनकी बहुमुखी उद्भा- को पूर्णता तक ले चलते हुए समष्टिगत पूर्णता या साम्य सिद्ध करते हैं।

उक्ति उनकी दृष्टि में 'पहले मुर्गी, फिर अण्डा या पहले अण्डा मुर्गी' प्रश्न की तरह रहस्यमय तथा जटिल है। यह केवल बहि को अन्तर्जगत् के साथ मिलाना है। उदाहरण के लिये भारत क बाहरी संसार लिया जाय। साहित्यिक के कथन के अनुसार भार की भीतरी भावनाओं का ही बाहर यह विवादग्रस्त भयङ्कर रू जिस बिगाड़ का अंकुर भीतर हो, उसका बाहरी सुधार बाहरी गन्दगी पर इत्र का छिड़काव। इस तरह विवादव्याधि के प्रशम आशा नहीं। दूसरे जो रोग भीतर हैं, जड़ प्राप्ति द्वारा रुपये-पैसे जमीन से उसका निराकरण हो भी नहीं सकता। मानसिक सुध ही हट सकता है। साहित्य की व्यापक महत्ता यही सिद्ध होती है

जीव· [illegible]
योगी बर्तन गढ़े जा सकते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिये हम प्राय: दूसरा तरीका अख्तियार कर बैठते हैं, यह साहित्य के भीतर से अभ साय के साथ काम करने पर, अपनी परिणति आप प्राप्त करेगा।

मुसल [illegible]
हुई [illegible]
कभी [illegible]

इन दुष्कृत्यों का सुधार भी साहित्य में है, और उसी पर अमल क हमारे इस समय के साहित्य के लिये नवीन कार्य, नई स्फूर्ति भ वाला, नया जीवन फूंकने वाला है। साहित्य में बहिर्जगत्-सम्ब इतनी बड़ी भावना भरनी चाहिये, जिसके प्रसार में केवल मक्का जरूसलेम ही नहीं, किन्तु सम्पूर्ण पृथ्वी आ जाय। यदि हद मक्का तक रही तो कुछ जन-समूह में मक्के का खिंचाव जरूर होगा, म देव की तरह वेद भगवान् के विरोधी घर ही में पैदा होंगे। पर अ

सन् १९८० का भारतवर्ष

(श्री सद्गुरुशरण अवस्थी)

सन् १९८० की चर्चा है, भारतवर्ष की केन्द्रीय परिषद् क निर्वाचन है। समूचे देश में भारी हलचल है। साम्यवादियों प्रजातन्त्रवादियों में घोर संघर्ष है। स्त्री, पुरुष, बाल-वृद्ध कोई भ निष्क्रिय नहीं। सब का अपना दल है और सभी की थ्योरियों प बल है। बात की बात में वायुमण्डल उष्ण हो जाता है और क्षण-क्षण में सहस्रों व्यक्तियों की टुकड़ी जमती और पिघल जाती है। सभी वक्ता हैं और सभी गहरी अभिरुचि रखते हैं। चुनाव का वातावरण इतना मोटा हो गया है कि प्रत्येक सजीव प्राणी को साँस में चौबीसों घण्टे वही खिंचता है। पवन भी वक्तृता झाड़ता है। मर-मर शब्द द्वारा पादप करतल-ध्वनि करते हैं। उजड़े खंडहर झोंकों को काटते हुए अपनी कहानी सुनाने के लिये तने हैं, परन्तु लोगों का ध्यान महलों की ओर है, विनष्ट राजनीतिक दल का चुनाव संकीर्तन सुनने के लिए किसे अवकाश है? सशक्त दलों की ही ओर सब का विशेष ध्यान है। घर में चुनाव-चर्चा, बाहर चुनाव-चर्चा, गली में निर्वाचन-ध्वनि, सड़कों पर निर्वाचन-घोष, कार्यालयों में वही राग, विद्यालयों में वही रंग, पुस्तकों में वही प्रकरण, समाचार-पत्रों में वही प्रकार—देश के कोने-कोने में केवल एक प्रतिध्वनि है और वह है चुनाव की।

इस बार साम्यवादियों की विजय होगी, ऐसा लोगों का अनुमान था। भारतवर्ष में स्वतन्त्रता स्थापित होने के बाद चार निर्वाचन हो चुके हैं और लगातार प्रजातन्त्रवादियों की ही विजय हुई है। गत शासन प्रजातन्त्रवादी और श्रमजीवियों का संयुक्त

रखता है। भारतवर्ष के भौगोलिक विस्तार से कहीं अधिक विस्तार हिन्दी का है। इस समय के लोगों को यह विश्वास ही नहीं होता कि पचास वर्ष पूर्व भारतवर्ष में एक बड़ी सख्या निरक्षर लोगों की थी। और न वे यही अनुमान कर पाते हैं कि कभी भी भारतवर्ष इतना अकर्मण्य रहा होगा कि एक द्रव्योपार्जन करता हो और दस उसकी आय पर आश्रित हों। आज प्रत्येक युवक और युवती की अपनी स्वतन्त्र आय है। छोटे-बूढ़े, विरल और घने सभी के घरों में स्थान-स्थान पर बिजलियाँ लगी हैं। कोई भी पदार्थ मार्गों और गलियों में पड़ा हुआ दिखाई नहीं देता। ग्रामों का आकार और कस्बों का ढाँचा भी किसी क्रम की ओर खिंचता हुआ दिखाई देता है। छोटे गलियारे और चौड़ा होना चाहते हैं और पजावे की ईंटों ने मार्ग, किसी न किसी प्रकार से, पक्का बना दिया है। वास्तविक चित्र दिये बिना यहाँ भी कोई घर नहीं बन सकता। गोबर के ढेर और कूड़े के ढूह निवासस्थान से बहुत दूर एकत्रित किये जाते हैं। पशुसंघात भी निवासस्थान से काफी दूर है। माताओं की गन्दी बातों को लड़के और लड़कियाँ भौहें चढ़ाकर टोक देती हैं और अपनी-अपनी पुस्तकों का हवाला देकर अपने पहले स्वर में सम्भाषण करने लगती हैं। ग्राम के मुखिया को पुलिस के सिपाही अभिवादन करते हैं ... [illegible]। खेतों में मेंड़ ...

है और कुछ ढङ्ग के श्रमजीवी तो आधी पेंट पहन कर खेतों में ... करते हैं। ग्रामों में केन्द्रीय बैङ्क की शाखाएँ पुलिस-चौकी अथवा ... के कार्यालय में हो खुली हैं और प्रत्येक किसान के लेन देन का ... उसमें अवश्य है। जमींदारों की सख्या बहुत कम हो गई है।

नका गौरव भी बिलकुल शिथिल हो गया है। साधारण जनता उनसे तरह चिपी रहती है।

नगरों में समवाय व्यापार-संघ बहुत हैं। किसी एक व्यक्ति की एक या एक से अधिक संस्थाएँ कदाचित ही मिलें। रुई और लक का सामान भी कागज़ में भले प्रकार लपेट कर धागे से बाँध कर मिलता है। शीशे की आलमारी में चने का सामान रहता है। पिसा हुआ नमक शीशियों में बिकता है। नमक से अधिक शीशे का मूल्य देना पड़ता है। आधेय से आधार का अधिक महत्त्व है। मिठाइयाँ मिट्टी अथवा चीनी के ढक्कनदार बर्तनों में बन्द करके बेची जाती हैं। प्रत्येक हलवाई की भट्ठी दूकान के पीछे है। और एक बड़ी ऊँची चिमनी से ऊपर धुआँ निकला करता है। चाय-घरों की संख्या बहुत बढ़ गई है, रजक-व्यवसाय बड़ा चमत्कृत करने वाला है। कार्यालय में तीन यन्त्र लगे हैं। इन्हीं में घूमता हुआ वस्त्र धुलकर सूखा और तह किया हुआ निकलता है। सामाजिक उन्नति के लिये लोग बहुत उतावले हैं। परदा बिलकुल टूट गया है। लुक-छिप कर भी स्त्रियों की ओर ताकने वालों का एक दम अभाव हो गया है। बालिकाएँ उसी निर्भीकता के साथ विद्यालय चली जाती हैं जितनी निर्भीकता के साथ बालक जाते हैं। अर्धनग्न व्यक्तियों को तुरन्त कारागार भेज दिया जाता है। प्राणदण्ड का विधान बिलकुल उठ गया है। किशनपुर अवधपुर, और प्रयाग ऐसे नगरों के वैचित्र्य-निकेतों में 'इक्का' नामक एक विचित्र सवारी रखी है। कहते हैं कि पचास वर्ष पूर्व लोग इस सवारी पर चढ़ते थे। हस्तिनापुर के वैचित्र्य-निकेत में दो इनसे भी पुराने वाहन रक्खे हैं। एक को रथ कहते हैं। कहा जाता है कि भारतवर्ष में प्राचीन योद्धा सहस्रों वर्ष पूर्व इसी पर चढ़ कर युद्ध किया करते थे। दूसरी विहंगम सवारी को ऊँटगाड़ी कहते हैं। उचित उपादानों के साथ किसी जीव के प्रयोगशाला में रक्खे हुए मृत शरीरों की भाँति ये प्राचीन चिन्ह सुरक्षित रक्खे हैं।

प्रयत्न-सारल्य और प्रयास-लाघव की वृत्ति बहुत बढ़ रही है व्यवहार केन्द्रीकरण और व्यापार-सङ्क्षिपन की धुन सबको सवार है ऐसे नये ढंग की मेजें हैं जिनसे भोजन करने का, लिखने का ताश और बिलोयर्ड खेलने का, अल्मारी तथा पलंग का काम थोड़े इधर-उधर फेर-फार करने के बाद लिया जा सकता है। कलम, दवात और पेंसिल तो सिमटकर एक ही स्वरूप में बहुत पहले वर्तमान थी ही, अब आचार्य नवेलकर ने दाल-भात, आटा साग, अर्थात् सारे भोज्य पदार्थों को सूक्ष्म करके अपनी भोजन-वटी में सन्निहित कर दिया है। इस वटी का आकार बड़े मटर के आकार से बड़ा नहीं है और दिन में इसे केवल तीन-चार बार खाना पड़ता है। कहते हैं कि इससे बिलकुल क्षुधा नहीं लगती, केवल थोड़ा जल ग्रहण करना पड़ता है। अभी इसका मूल्य बहुत है, परन्तु प्रयोग में यह ठीक उतरते हैं। आचार्य महोदय मूल्य घटाने का ढँग सोच रहे हैं। यदि सङ्क्षेपन की होड़ में भोजनवटी टिक गई तो बड़े-बड़े भोजनागारों का शृङ्गार, दावतों के लम्बे-चौड़े प्रबन्ध, पाकशास्त्रियों की कलाएँ और न जाने क्या क्या वस्तुएँ व्यर्थ और निरर्थक हो जायँगी और ऊँट गाड़ियों की भाँति उनके स्थान केवल वैचित्र्य निवास रह जायँगे।

सुनते हैं कि इसी भारत-भूमि पर ५० वर्ष पूर्व स्टेशनों और मेलों में बड़ा हल्ला मचता था। आज टिकट लेने वाले एक पंक्ति में खड़े होकर, एक के बाद एक, खिड़की तक पहुँचते हैं। अभिनय-गृहों में केवल अभिनेताओं के शब्द सुनाई देते हैं। खोंचेवाले संकेतों से बुलाये जाते हैं। कहीं कोई किसी को धक्का देते नहीं दिखाई देता। कुरता-धोती वालों की प्रधानता है, परन्तु कुछ लोग अंगरेजी सूट में और कुछ लोग अचकन और चूड़ीदार पजामें भी पहने दिखाई देते हैं। शासन की ओर से किसी प्रकार के वस्त्र का अनुबन्ध अथवा प्रतिबन्ध नहीं है। निर्वाचन के ज्वर में धनियों के प्रति बहुत वेग का

त्कार है। आक्रमण इतना अधिक विस्तृत हो गया है कि यदि कोई व्यक्ति जनसमूह के निकट से निकल जाता है तो तालियाँ पिट जाती हैं। बहुमत प्राप्ति के प्रयास में धनिक भी मुक्त हस्त से धन व्यय कर रहे हैं। अपने-अपने दल के नेता अपनी-अपनी आयोजित सभाओं में घूम-घूमकर भाषण दे रहे हैं। मोटर से उतरना नहीं पड़ता। ठीक सम्भाषण-मञ्च के निकट मोटर लगा दी जाती है। इस महान् क्रान्तिकर निर्वाचन-विक्षोभ में भी शासन-कर्मचारी उदासीन हैं और विचारों में नियन्त्रित, सम्भाषणों में सतर्क तथा व्यवहारों में निष्पक्ष हैं। प्रलोभन के इन्द्रजाल में विचरने के लिए उनके पास अधिकार का भगवत्कवच है।

निर्वाचन-तिथि के ठीक एक दिन पूर्व काशी का रङ्ग कुछ फीका पड़ गया है। भारतीय सेना के विश्राम-वेतन-भोक्ता पूर्व महासेनाधि-नायक 'शत्रुदल केसरी' तथा 'अर्जुन वीर' इत्यादि उपाधियोंसे अलंकृत महाराणा रणधीर सिंह आज मृत्यु-शय्या पर पड़े हैं। उनके ज्येष्ठ पुत्र 'शत्रु पञ्चानन' अर्जुन वीर महाराणा मृत्युञ्जसिंह—वर्तमान महासेनाधिनायक-पलंग के पैरों के निकट सिर झुकाये खड़े हैं। म्रियमाण महापुरुष का प्रख्यात नाम "वीरू" है। जिसे इस महा-पुरुष के जीवन-इतिहास का अभिज्ञान नहीं वह इस अभिधान के तात्पर्य को नहीं समझ सकता। वीरू गत छः वर्षों से कारावास कर रहे हैं। इनके निवासस्थान की कोठी दशाश्वमेध घाट से थोड़ी दाईं ओर हट कर है। बीच के खण्ड में एक बड़े से कमरे में रोगी की शय्या बिछी है। बाईं ओर करवट लेने पर गङ्गाजी की तरल तरङ्गों में उलझ कर मन विराग से भर जाता है और वीरू भक्ति से साश्रु नेत्र मूँद लेते हैं; और दाहिनी ओर करवट लेते ही एक बड़े शीशे में जड़ा हुआ कृष्ण का एक सुन्दर चित्र वीरू को अपनी ओर पलटने लगता है और वीरू मोहन्-आतुर हो जाते हैं। इस चित्र के ठीक नीचे

भी बहुत से चित्र लगे हैं। कहते हैं, ये सब व्यक्ति भारतवर्ष में पचास वर्ष पूर्व बहुत प्रसिद्ध थे। इनके नाम इतिहास में उन्नायकों के रूप में दिए हैं। कमरे के दाहिनी ओर धर्म प्रचार को स्मरण किया गया है—ईसा मसीह, रसूल, मुहम्मद, गौतम बुद्ध, महात्मा गांधी, स्वामी दयानन्द, राममोहन राय, राधास्वामी महाराज। कमरे की शेष दीवार पर तीन बड़े २ चित्र लगे हैं। एक केन्द्रीय परिषद् के पहले प्रधान मन्त्री महामान्य नरसिंह नारायण जू०न०प्र० स० कीं० का चित्र है और दूसरा केन्द्रीय धारा सभा के प्रथम राष्ट्रपति 'सञ्चालक-शिरोमणि' राममूर्ति धर्ममूर्ति डॉड 'ध्रुव' कृ० स० कीं० का है। तीसरा स्वयं वीरू महाशय का है। चित्रों के इस सङ्कलन की स्वरूप सृष्टि श्रीमती महासेनाधिनायिका महारानी नलिनी के मस्तिष्क में हुई थी सजावट का ढङ्ग भी उन्हीं का है। कमरे के फर्श पर एक अत्यन्त मूल्यवान और सुन्दर क़ालीन बिछा हुआ है। ऊपर की छत पर 'मयंक मार्तंड' नामक हस्तिनापुर के एक प्रसिद्ध टाइल्सकार्यालय के 'लोचन ललाम' नामक टाइल्स लगे हैं। एक कोने पर 'शब्द-तरंग दर्पण' रक्खा है। आज से एक सप्ताह पूर्व वीरू कभी-कभी निर्वाचन का कोलाहल सुनने के लिये इस यन्त्र को अपने पलँग के निकट रख लिया करता था। कमरे की सजावट में हँसती और नृत्य करती हुई पुतलियाँ, बोलता और अभिवादन करता हुआ पुरुष तथा पिंजड़े में दौड़ते हुए और खिलखिलाते हुए बालकों का स्थान विशेष उल्लेखनीय है। न तो कहीं बिजली के तार हैं और न बत्तियाँ ही कहीं दिखाई देती हैं। दीवारों के भीतर ही सारा प्रकाश सन्निहित है। सारी बत्तियों को खोलने पर सब कमरा प्रकाश से जगमगा उठता है। इस की बनावट ऐसी है कि पवन के अवरोध और आगम के लिये विशेष आयोजन है। कमरे का आकार भी इच्छानुसार परिवर्तित किया जा सकता है। एक छोटे से पुस्तकागार में रामायण, महाभारत और

गीता रक्खे हैं। अन्य आधारों में और पुस्तकें भरी हैं। एक स्थान पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा हुआ टँगा है—

"जब जब होइ धरम की हानी, बाढ़हिं असुर महा अभिमानी।
तब-तब धरि प्रभु मनुज शरीरा, हरहिं दयानिधि सज्जन-पीरा।"

देगा। इस समय जब साहित्यिक विचारों की रण-दुन्दुभि का आवाज़ हमारे कानों में गूँज रही है, और द्विवेदीजी ने इन साहित्यिक विचारों में बहुत काफ़ी भाग लिया है। कुछ लोग तो यहाँ तक कहेंगे कि जहां तक विचारों का सम्बन्ध है, वहाँ तक द्विवेदीजी को हिन्दी जगत् में परशुराम जी का साहित्यिक अवतार समझना चाहिये।

आज से लगभग २१ साल पहले की बात है। उस समय यह लेखक कानपुर के एक कालेज में पढ़ता था। पूज्यपाद पं० देवीप्रसाद शुक्ल भी लेखक के अध्यापक थे। जिन्होंने पंडित देवीप्रसाद शुक्ल के चरणों में बैठकर शिक्षा पाई है, उन्हें उनके पढ़ाने की शैली के प्रति अगाध श्रद्धा है। अध्यापक का काम है—अपने विद्यार्थी के मस्तिष्क में जबरदस्ती ठूँस-ठूँस कर अरोचक और निर्जीव बातों का भरना नहीं, बल्कि अपने व्याख्यानों और अपने व्यक्तित्व के प्रभाव के द्वारा उसकी सोती हुई आत्मा को जगा देना। यही देव दुर्लभ गुण प० देवी प्रसादजी में विशेष रूप से मौजूद था। शुक्ल जी दर्जे में दो हज़ार वर्ष पहले की घटनाओं को पढ़ाकर ही सन्तुष्ट न हो जाते थे, किन्तु वह आज कल की विचार-धाराओं तथा राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक समस्याओं की ओर भी अपने शिष्यों का ध्यान आकर्षित करते थे। हम लोगों ने फ़ीरोज़शाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, तिलक, गोखले आदि की कीर्ति-कथा को पहले-पहल शुक्लजी ही के मुखारविंद से सुना। रोम और ग्रीस के इतिहास को पढ़ाते हुए, शुक्ल जी कालेज में बम्बई (१६०४ ई०) और बनारस (१६०५ ई०) की कॉंग्रेसों की कहानी सुनाया करते थे। उन्होंने हिन्दी की ओर भी हम लोगों का ध्यान आकर्षित किया। इतना ही नहीं, किन्तु उन्हीं की जिह्वा से हम लोगों ने पहली बार द्विवेदीजी की प्रशंसा सुनी, और उन्हीं के द्वारा उनके दर्शन का सौभाग्य भी हम लोगों को प्राप्त हुआ। जब तक मैं

आप का अद्भुत अधिकार है, [illegible] भी है। एक दफा इस लेखक ने [illegible] भाषा के ऊपर अधिकार पर अपना [illegible] की। उत्तर में आप ने कहा—'[illegible] जिन्होंने द्विवेदी जी के अंग्रेजी [illegible] पत्रों को पढ़ा है [illegible] यह बता सकते हैं कि उनकी भाषा में [illegible] और [illegible] होता है। प्रायः देखने में आता है कि [illegible] लोग अपने पाण्डित्य के बोझ से बेतरह दब जाते हैं। [illegible] इसके [illegible] नहीं पड़ता। मिलने वाले भी उनके इस [illegible] को देख कर चिन्तित हो जाते हैं। किन्तु आप अपने प्रगाढ़ पाण्डित्य को उसी तरह धारण किये हैं, मानो वह फूलों की माला है।

उनके हिन्दी के ज्ञान के विषय में कहना नामुनासिब है। उन्होंने हिन्दी-गद्य को जो नया रूप और गौरव दिया है, वह जब तक हिन्दी भाषा जीवित है तब तक चिरस्थायी रहेगा। इस लेखक ने हरिश्चन्द्र, प्रताप, भट्ट और व्यास के गद्य-लेखों को एक बार नहीं, अनेक बार श्रद्धा और सम्मान के साथ पढ़ा है। उनकी कृतियाँ हिन्दी के साहित्य रत्नों में बहुमूल्य हैं। लेकिन उनके समय के हिन्दी गद्य को लीजिये और आजकल के गद्य से उसकी तुलना कीजिए। आपको सहज ही में इस बात का पता लग जायगा कि तब और अब के गद्य में जमीन और आसमान का अन्तर है। उस समय उसका शैशवकाल था। अब उसमें प्रौढ़ावस्था की परिपक्वता आ गई है। इस समय हर प्रकार के भावों और विचारों को सरलता के साथ व्यक्त करने की उसमें जो शक्ति है वह पिछले समय के गद्य में न थी। तब हिन्दी गद्य ठीक जेठ की गङ्गा जी के समान थी। उसके उथले जल पर पहले विचारों की छोटी-छोटी नौकाओं को कुशल साहित्यिक मल्लाह बहुत

सम्हाल कर खेते थे। द्विवेदी जी की बदौलत, अब उसी गद्य-धारा में गहराई की गई है, और उसका विस्तार भी अब बहुत बढ़ गया है, जिस पर गम्भीर भावों और गहन विषयों के बड़े-बड़े उलपोत सुगमता के साथ पार हो जाते हैं और इन द्विवेदीजी ही के शब्दों में, "युग-परिवर्तन-कारणी" क्रांति के सफल विधायक द्विवेदीजी हैं। अथक परिश्रम से उन्होंने हिन्दी-गद्य के धुंधले हीरे को लेकर अपनी प्रतिभा की खरीद पर बार-बार चढ़ाया और तब तक उसे चढ़ाते ही चले गये, जब तक उसके अनन्त पहलुओं से अभूत पूर्व आभा न जगमगाने लगी। एक दूसरे अवसर पर प्रयोग किए गए द्विवेदीजी के शब्दों में उन्होंने हिन्दी-गद्य को परिष्कृत, परिमार्जित और सस्कृत बना दिया। उसकी शैली में अराजकता के स्थान में एक नियमित सत्ता उन्हीं के प्रयत्न से स्थापित हो गई। सुव्यवस्थित गद्य की चिरस्थायी शैली का सबसे बड़ा और प्रतिष्ठित नायक भावी इतिहास-लेखक द्विवेदीजी ही को स्वीकार करेगा।

द्विवेदीजी की टक्कर का साहित्यिक संसारमें अगर कोई महारथी हुआ है तो वह डाक्टर जान्सन ही है। जिन लोगों ने अंगरेजी साहित्य के इतिहास का परायण किया है, उन्हें इसके बताने की आवश्यकता नहीं है कि बहुत-सी बातों में डाक्टर और पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी में समानता है। डाक्टर जान्सन ने अपनी कृतियों से उतना नहीं जितना अपने प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के द्वारा अंगरेजी साहित्य के विकास की गति और क्रम को प्रभावित किया है। इस समय भी अंगरेजी साहित्य के गद्य और पद्य के संग्रहों में विद्यार्थी को डा० जान्सन के फुटकर लेख या पत्र पढ़ने को मिल जाते हैं। लेकिन डाक्टर जान्सन का नाम यदि अमर है तो केवल इसी कारण कि उनकी प्रतिभा की छाप अंगरेजी साहित्य पर इस तरह से लगी

"तुम हिन्दी क्यों नहीं लिख सकते ? पढ़े-लिखे हो, उच्च शिक्षा
है, क्या यह तुम्हारा धर्म नहीं है कि तुमने पश्चिम से ज्ञान की
उपलब्धि की है, उसको उन तक पहुँचाओ, जिनके लिये भाषा-भेद
कारण यहाँ के साहित्यनिधि के अनेक दरवाजे सदा के लिए
हैं।" इस पर उन्होंने उस बातचीत का जिक्र किया, जो बंकिम
और स्व० रमेशचन्द्रदत्त में इसी सम्बन्ध में हुई थी। बंकिम ने
से कहा, "आप अंगरेजी में तो लिखते हैं, यह खुशी की बात
लेकिन साथ ही इसका दुःख भी है कि बंगाली होते हुए आप बंग
साहित्य के प्रति बिलकुल उदासीन हैं। बंगला में पुस्तकें आप
नहीं लिखते ?" इस पर दत्त बोले, "क्या करूँ, बंगला में लिख न
सकता।" यह सुन कर बंकिम बाबू बिगड़ उठे। उन्होंने कहा,
बंगला में लिख नहीं सकते ? बंगाली होकर बंगला में लिख न
सकते, कितने अचरज की बात है।" दत्त ने कहा, "कैसे लिखूँ
बंकिम बाबू ने उत्तर दिया "उसी भाषा में लिखिए, जिसमें
अपने घर में बातचीत करते हैं।" यह सुन कर दत्त हँस पड़े।
ने कहा, 'लेकिन यह भाषा तो साहित्यिक भाषा न होगी।' जवाब
बंकिम बाबू ने कहा, 'जो आप लिखेंगे वही ठीक माना जायगा।'
कथा के सुनाने के बाद द्विवेदीजी ने कहा, "साहित्य की भाषा माम
बोलचाल की भाषा से भिन्न नहीं है। इसलिए तुमको चाहिये कि
हिन्दी लिखो। हिन्दी से अनभिज्ञ होना तुम्हारे लिए कलङ्क की
है। जिस मातृ-भाषा के कारण तुम्हें घर और समाज में अनेक
की सुविधाएं हैं, इसके ऋण से तुम आंशिक रूप में भी तब त
उऋण नहीं हो सकते, जब तक तुम हिन्दी की सेवा का प्रयत्न
करोगे। उनको उन्हीं का भरोसा है जो इस समय विश्वविद्यालयों
शिक्षा पा रहे हैं। क्या तुम विश्वासघात कर कृतघ्न बनना चाहते हो

इस लेखक को मालूम है कि ऊपर जिस बातचीत का जिक्र

...सी तरह की बातचीत वह उन सब नवयुवकों से किया करते थे, जो
...वे उनके पास यदा-कदा दर्शनों के लिये पहुँच जाते थे। न जाने,
...कितने लोगों को द्विवेदीजी ने हिन्दी लिखने के लिये उत्साहित किया।
...लेखक को यह अच्छी तरह से ज्ञात है कि आजकल के बहुत से
...सुप्रतिष्ठित लेखकों को द्विवेदीजी ही ने कलम पकड़ कर हिन्दी
...लिखना सिखाया और जब उनकी अबोध उङ्गलियाँ अनभ्यास के
...कारण ऊट-पटांग लिख जाती थीं, तब द्विवेदी जी गुरुवत् स्नेह और
...सहानुभूति के साथ घण्टों बैठकर उनकी बालोचित भूलों को सुधारने
...में अपना अनमोल समय खर्च करते थे। बहुत-से लेखकों के लेख
...ऐसे आते थे कि उनमें द्विवेदीजी की काट-छाँट के बाद लेखक के
...नाम के अतिरिक्त और कुछ न रह जाता था। लेकिन 'सरस्वती' में
...जब वे लेख प्रकाशित होते, तब लेखक महोदय उन लेखों को देखकर
...अभिमान से फूले न समाते, यद्यपि उनमें सारा करामात द्विवेदीजी
...ही की होती थी, नाम केवल लेखक का होता था।

द्विवेदीजी और 'सरस्वती', इनमें इतना अभिन्न सम्बन्ध हो गया
...है कि इनमें से एक का नाम लेते ही दूसरे का नाम आपसे आप
...होठों पर आ जाता है। द्विवेदीजी का लिखा हुआ स्वर्गीय बा०
...चिन्तामणि घोष के बारे में जो लेख प्रकाशित हुआ था, उसमें उन्होंने
...खुद बतलाया है कि किस तरह से द्विवेदीजी 'सरस्वती' के सम्पादक
...हुए। इसलिए हमें उस कथा के दोहराने की यहाँ पर कोई जरूरत
...मालूम नहीं होती, लेकिन एक बात उस लेख में नहीं कही गई है।
...पहले द्विवेदीजी पद पा नहीं सकते थे। वह यह है—बा० चिन्तामणि

घोष की हिन्दी के प्रति सेवाओं में सबसे चिरस्मरणीय सेवा यह
कि उन्होंने 'सरस्वती' के द्वारा हिन्दी-जगत् के सामने द्विवेदीजी
अद्वितीय प्रतिभा के पूर्ण विकास के लिए समुचित रङ्गमञ्च समुपस्थि
कर दिया था।

जिस दिन द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सम्पादक के आसन
आकर बैठे वह दिन हिंदी-साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकि
होगा। क्योंकि उस दिन हिन्दी संसार में उस परिवर्तनकारिणी क्रां
का श्रीगणेश हुआ, जिसके कारण १८ वर्ष तक उथल-पुथल जारी र
और जिसका प्रभाव हमारे साहित्य की गति और उसके विकास
व्यापक और चिरस्थायी है। उनके लेखों के संकलन और सम्पाद
की शैली एवं नवीन और प्राचीन विषयों का विवेचन हिन्दी संसा
को नित नूतन आदर्शों की ओर आकर्षित करते थे।

द्विवेदीजी के समय की 'सरस्वती' में एक विशेषता थी। व
श्मशान की निखिल शांति के प्राण-घातक मन्त्र का पाठ अपनी प्रत्ये
पंक्ति से पाठकों को नहीं पढ़ाती थी। उसमें जान थी, जीवन क
चहल-पहल थी। सत्य की पिपासा से व्याकुल वह दुर्गम पर्वतों औ
दुरूह गुफाओं में अमृत सलिल के ढूँढ़ने के लिए सदैव तत्पर थी।

द्विवेदीजी सम्पादन के मूल मन्त्र को अच्छी तरह से जानते
थे। पत्र या पत्रिका की जान विवाद-ग्रस्त विषयों का ढूंढ़ना है
उन्होंने अपने समय में 'सरस्वती' में न जाने कितनी बार ऐसे मामलों
को जनता के सामने रखा। पुराने और गम्भीर विषयों को

लोचक की तीव्र और तीक्ष्ण सहानुभूति के सहारे आधुनिक पाठकों के लिए नवीनता के साथ मनोरंजक बनाने में द्विवेदीजी ने साहित्य में वही काम किया, जो मैथ्यु आरनाल्ड ने अपनी समालोचनाओं के द्वारा अंगरेजी साहित्य के लिये किया। आज तक हिन्दी-जगत् में द्विवेदीजी के पाए का कोई दूसरा सम्पादक नहीं हुआ। भविष्य में कब ऐसा दूसरा सम्पादक हमें नसीब होगा, यह कोई नहीं कह सकता।

दया

(पं० चतुरसेन शास्त्री)

यह मेरी अन्तरात्मा की पवित्र आज्ञा है। यह मेरे हृदय का शृङ्गार है। इसकी स्मृति से मन में प्राण-संजीवन होता है। मैं यह कार्य करूँगा। यह सच है कि वह मेरा कोई नहीं, वह पापी पतित है। उस पर उसी का कोप है। हाय! भगवान् का भी कोप है। कुछ उस पर क्रोध करते हैं, कुछ दुरदुराते हैं और कुछ अविश्वास करते हैं। इतना सह कर वह कैसे जी सकेगा? इससे तो अच्छा यही है कि उसे लोग मार डालें। जिसे ठिकाना नहीं, आश्रय नहीं, वह इस पृथ्वी पर स्वार्थ की हवा में कितने दिन साँस ले सकेगा? चाहे जो कुछ भी हो। लोग चाहे मुझसे रूठ जायँ, पर मैं उसे अवश्य प्यार करूँगा। यह मेरी अन्तरात्मा की पवित्र आज्ञा है। यह मेरे हृदय का शृङ्गार है। इसकी स्मृति से मन में प्राण-संजीवन होता है। मैं यह कार्य करूँगा।

वह नीच है, अछूत है, इससे क्या? क्या उसके शरीर में वही आत्मा नहीं है जो हमारे में है? उसके जैसे हाड़-मांस क्या हमारे शरीर में नहीं हैं? वह ईश्वर का पुत्र है। उसके शरीर का प्रत्येक कण ईश्वर के हाथ की निजू कारीगरी है। ईश्वर ने उसे स्वयं बनाया है और आज तक पाला है। बिना उसके वातावरण के क्या वह इतना बड़ा होता? यह बात झूठ है। अब न सही, पर कभी तो उसने प्यार पाया होगा? क्या कोई ऐसा बच्चा देखा है जिसने माँ की छाती से चिपट कर मधुर दूध न पिया हो? क्या किसी ने ऐसा

क्या देखा है जिसने बाप के लाड़ न देखे हों ? और इसने क्या बचपन में प्यार नहीं किया है ? आज उसकी यह दशा हुई । प्यार से गया, घृणा, क्रोध, तिरस्कार की बौछारों से मरा जा रहा है । क्या प्यार की प्यास इसके मन से बुझ गई होगी ? एक बार जिसने मिश्री खाई है, क्या वह उसके मिठास को भूल सकता है ? वही प्यार मैं इसे दूँगा । इसे प्यासे के पानी पीने से उसके प्राण शीतल हो जाते हैं, जैसे अन्न पाकर भूखों की आँखों में ज्योति आ जाती है, उसी तरह इसे प्यार पाकर सुख मिलेगा । वह मुझे प्यार करेगा । प्यार क्या योंही मिलता है ? कितने मरे, कितने खपे, मैं प्यार को पाऊँगा । गुणों पर प्यार होता है, ठीक है उसे प्रेम कहते हैं । एक प्यार चाहना का होता है, उसे मोह कहते हैं । यह प्यार वासनाहीन है, इसमें न गुण देखे जाते हैं न दोष, न नीच न ऊँच, न पाप न पुण्य । केवल दुःख देखा जाता है । चाहे जो हो, चाहे जिस कारण से दुःखी हो, उसे प्यार करना इस प्यार का एक प्रकार है । इस प्रकार को कहते हैं दया । भगवान् दयालु हैं । दया भगवान् की नियामक सत्ता है । भगवान् के पालन में दया है, संसार में भी दया है । यही दया उसे अतुल न्यायी बनाये है जो न प्यार के, न प्रतिष्ठा के, न काम के पात्र हैं, वे सब दया के पात्र हैं । अच्छी तरह समझ गया हूँ । देखते ही पहचान लूँगा उनसे ही दया करूँगा । यह देखो, मन में कैसा हर्ष उत्पन्न हुआ, आत्मा में कैसा सन्तोष मिला । यह दयाधन का प्रताप है । हे प्रभु ! मेरे हृदय में दया को स्थायी बना । दया मेरे नेत्रों में बसे । दया मेरे पथ का प्रकाश हो ।

(कन्हैया)

—

सम्मिलित कुटुम्ब

(श्रीराम शर्मा)

वेदान्त का सार है—एक शब्द में—ओरेम्, और सम्मिलित कुटुम्ब का आधार और सार है—एक ही शब्द में—त्याग। सम्मिलित कुटुम्ब-रूपी लता सद्भाव और पारस्परिक सहनशीलता के जल-सिंचन से लहलहाती है, और निरंकुशता और स्वार्थाग्नि से जल कर खाक हो जाती है। स्वार्थ, अत्यधिक व्यक्तिगत लाभ रिश्ते में छोटों की उपेक्षा और कठोर शासन से कौटुम्बिक जीवन के सुख की वीथी कलह, द्वेष और शत्रुता के रोड़ों से भर जाती है, और कौटुम्बिक जीवन के सुख-प्रासाद का भग्नावशेष विवाह और मौत सम्बन्धी रस्मों में ही, पुच्छल तारे की भाँति, कभी-कभी चमक जाता है। बहुत से कुटुम्बों में तो पारस्परिक कलह के कारण बोल-चाल तक बन्द हो जाती है, और छोटे—पूरे महाभारत प्रायः प्रति सप्ताह घरों में रचे जाते हैं। फलस्वरूप भाई-भाई, चाचा-भतीजों, बाप–बेटों और अन्य प्रिय जनों को अलग होना पड़ता है। बचपन का स्नेहपूर्ण [illegible] व्यवहार और [illegible] और अस्पष्ट [illegible] पर वृक्ष।

पर यह सब क्यों होता है ? इस थोड़े से जीवन में मनुष्य सम्मिलित कुटुम्ब रूपी वृक्ष की, जिसकी शीतल छाया में यह पनपा था, मूलोच्छेद क्यों कर देता है ? यदि कहा जाय कि चिड़ियों और पशुओं के बच्चे भी बड़े होकर अपने कुटुम्ब को ठुकरा देते हैं, अपने पैरों खड़े

कि हम भारत के कुटुम्ब-रूपी विरवे पर अंतरवेला जीवन को उग लगाना चाहते हैं। हम केवल अपनी समस्याओं को देशी ढङ्ग से हल करना चाहते हैं। अच्छा, पहले सम्मिलित कुटुम्ब में होने वाले कलह और उसके दुष्परिणाम का कारण ढूँढ़िये।

वर्णाश्रम-धर्म का ढुग्गी पीटने वालों से हमें पूछना है कि क्या वे वर्णाश्रम-धर्म के वैज्ञानिक आधार का कुछ ख्याल करते हैं। मिलों और फैक्टरियों के मालिक जब गोरक्षा और वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा की पुकार करते हैं, तब हमें यह प्रतीत होता है, मानो कोई सदा-सुहागिनि सतीत्व का उपदेश दे रही हो। क्यों? इसलिये कि वे स्वयं वर्णाश्रम-धर्म की साधारण सी बातों को भी नहीं निभाते। जब सौ वर्ष की आयु माना जाता था, तब पचास के उपरान्त गृहस्थ लोग वानप्रस्थ लेकर घर छोड़ देते थे और अपने बच्चों को घर का भार देकर देश आत्म-हित का चिन्तन करते थे, और अब? अब तो हमने सत्तर वर्ष के बूढ़ों को मरते देखा है, तो भी उनकी अन्तिम कामना यही सुनी कि हाय, पौत्र का विवाह न कर पाये। मौत सिर पर आ जाती है, पर घर की जमादारी—पुत्र-कलत्र की चिन्ता—नहीं जाती। हमारा संकेत यहाँ अमीरों की ओर है। बूढ़े बाबा की मरजी पर विवाह रचे जाते हैं, जिनमें अधिकांश अनमेल विवाह होते हैं। अमीरों के यहाँ—कुछ अपवादों की बात और है—कलह के बीज मुख्यत. बूढ़े बाबा वे लोग बोते हैं, जो अपने बच्चों को केवल अपनी शान की चीज़ समझते हैं।

रहे गरीब और गरीबी तथा जुल्म पर बलि चढ़ने वाले प्राणी, सो उन्हें देख-देख कर कलेजा पक जाता है, पर गरीबों के सम्मिलित कुटुम्ब में भी सुख नहीं। यह हम मानते हैं कि गरीबों की कलह बहुत कुछ दूर हो सकती है, गरीबी के दूर करने से, पर सैद्धान्तिक दोष

में अपनी [illegible] और अपने बच्चे हैं, आइयों और पत्नी [illegible] इसके दुष्परिणाम से दूकानें और [illegible] है और व्यक्तित्व बिलकुल [illegible]

यही स्त्रियों [illegible] सम्मिलित [illegible] है तो घर में कप्रबन्ध प्रारम्भ हो जाता [illegible] कलह और दब्बूपन [illegible] और घृणा [illegible] हमने दस-बीस जगह देखा है [illegible] —थोड़े से नीबू और [illegible] के पड़ा का [illegible] नहीं सोचा जाता कि अलग हुए भाई के कुए से पानी लेना पड़ेगा।

हमसे कोई पूछ सकता है कि सम्मिलित कुटुम्ब के ये दोष देहात में होंगे, पढ़े-लिखे लोगों में नहीं हैं। हमें [illegible] नहीं है, पर हम पूछते हैं कि भारतवर्ष में पढ़े-लिखे लोग हैं कितने, और जितने हैं भी, क्या उनके सम्मिलित कुटुम्ब [illegible] दोषों से परे हैं? एक दूसरी बात यहभी कही जा सकती है [illegible] देहात के बे-पढ़े आदमियों के लिये यह बात लिखी है, तो व्यर्थ का परिश्रम किया? हमारा कहना है कि अनपढ़, कुपढ़ और अनपढ़ लोगों तक सन्देश पहुचाते हैं पढ़े-लिखे लोग। पढ़े-लिखे लोग ही इन बातों का गम्भीरता से मनन करें, तब वे किसी नतीजे पर पहुँचेंगे।

तब फिर क्या किया जाये? हमारी तुच्छ बुद्धि में रोग की औषधि साधारण है, और जब हम साधारण शब्द का प्रयोग करते हैं, तब हिन्दू कानून और अन्य सामाजिक बातों का ख्याल नहीं करते। प्रत्येक माता-पिता को चाहिए कि वे अपने बच्चों का विवाह उनकी इच्छा के बिना न करें और लड़कों से कह दें कि विवाह के बन्धन में

स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य

(सुश्री चन्द्रावती लखनपाल, एम० ए०, बी० टी०)

प्राचीन समय में भारतवर्ष में स्त्री-शिक्षा का क्या उद्देश्य रहा होगा, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना तो प्राचीन इतिहासादि के पढ़ने से अवश्य ज्ञात हो जाता है कि उस समय स्त्री को ऊँची से ऊँची शिक्षा दी जाती थी। स्त्री और पुरुष मानसिक विकास की दृष्टि से एक ही क्षेत्र में विचरते थे। उनमें सामाजिक दृष्टि से कोई भेदभाव न था। दोनों को स्वतन्त्रतापूर्वक रहने और आत्मिक उन्नति करने के समान रूप से साधन प्राप्त थे। स्त्री और पुरुष की स्थिति में वह विषमता न थी, जो आज पाई जाती है। इस लिए उस समय स्त्री की स्वतन्त्रता व अधिकारों का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता था इसलिये स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य भी अधिकारों की प्राप्ति, जैसा कि इस समय है, तब न रहा होगा। उस समय स्त्री का सारा ध्यान घर पर ही केन्द्रित रहा होगा। और स्त्री-शिक्षा का लक्ष्य सम्भवतः सद्गृहणी बनना ही रहा होगा। किन्तु प्राचीन काल की गृहिणी का कार्यक्षेत्र घर की चहारदीवारी तक ही सीमित रहा होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। गृहिणी के रूप में भोजन बनाने वाली स्त्री समय पड़ने पर देश का शासन कार्य सम्भाल सकती थी, बच्चों को पालने वाली माता समाज, जाति तथा देश-सम्बन्धी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर, अपनी राय प्रकट कर सकती थी।

किन्तु काल की गति अद्भुत है। एक समय आया जब कि गार्गी, मैत्रेयी, सुलभा, सावित्री की सन्तान बिल्कुल निरक्षरा बन गई। भारत से स्त्री-शिक्षा का लोप हो गया। इस समय न स्त्री-शिक्षा रही

...ठा उद्देश्य ! सदियाँ बीत गईं [illegible] निश्चय करने [illegible] के
...र में स्वयं ही इच्छा टटोलने [illegible] [illegible] न [illegible] नहीं पूर्व
...ों की यही हालत थी।

अन्त में कुछ तो स्वामी दयानन्द और राजा राममोहनराय जैसे
...ों के प्रयत्न से और कुछ पश्चिम के सम्पर्क से फिर भारत में
...शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। शुरू में बहुत वर्षों तक स्त्री-शिक्षा का
...य चिट्ठी-पत्री लिखना बना रहा। माता-पिता अपनी लड़की को
...स उद्देश्य से पढ़ाते थे कि वह चिट्ठी लिख सके और ससुराल
...र अपनी कुशलता की दो-चार टूटी-फूटी लाइनें लिख कर माता-
... को भेज सके। लड़की के लिये चिट्ठी लिखना-पढ़ना उस समय
... बात समझी जाती थी, वह लड़की की एक बड़ी विशेषता मानी
...ी थी। यदि कोई बहू लिखना-पढ़ना जानती थी तो मुहल्ले भर
...स्त्रियाँ उसके पास चिट्ठी लिखवाने-पढ़वाने आती थी और इस
...र मुहल्ले की स्त्रियों पर उसकी धाक जम जाती थी।

किन्तु स्त्री-शिक्षा विकास की इस पहिली सीढ़ी पर देर तक
...की। आर्थिक तथा अन्य कारणों से नवयुवकों में शिक्षा का
...र अति तीव्र गति से बढ़ रहा था। नवयुवकों में शिक्षा की वृद्धि
... प्रभाव स्त्री-शिक्षा पर भी पड़े बिना न रह सका। शिक्षित नवयुवक
...हता था कि वह कन्या भी, जिससे उसका विवाह हो, शिक्षिता
...नी चाहिए। अभी तक एक होनहार युवक को अपनी भावी पत्नी
... सम्बन्ध में ऊँची से-ऊँची कल्पना होती थी कि वह भले घर की
...ी हो, किन्तु अब उसको अभिलाषा हो गई कि उसकी पत्नी धनी
... या न हो, किन्तु वह शिक्षिता अवश्य हो। नवयुवक-जगत् की
...न एक-सुरी माँग का प्रभाव कन्याओं की शिक्षा पर यह पड़ा कि
...की शिक्षा माता-पिता के लिये एक आवश्यक विषय बन गया।

स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य

(सुश्री चन्द्रावती लखनपाल, एम० ए०, बी० टी०)

प्राचीन समय में भारतवर्ष में स्त्री-शिक्षा का क्या उद्देश्य रहा होगा, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना तो प्राचीन इतिहासादि के पढ़ने से अवश्य ज्ञान हो जाता है कि उस समय स्त्री को ऊँची से ऊँची शिक्षा दी जाती थी। स्त्री और पुरुष मानसिक विकास की दृष्टि से एक ही क्षेत्र में विचरते थे। उनमें सामाजिक दृष्टि से कोई भेदभाव न था। दोनों को स्वतन्त्रतापूर्वक रहने और आत्मिक उन्नति करने के समान रूप से साधन प्राप्त थे। स्त्री और पुरुष की स्थिति में वह विषमता न थी, जो आज पाई जाती है। इस लिए उस समय स्त्री की स्वतन्त्रता व अधिकारों का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता था इसलिये स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य भी अधिकारों की प्राप्ति, जैसा कि इस समय है, तब न रहा होगा। उस समय स्त्री का सारा ध्यान घर पर ही केन्द्रित रहा होगा। और स्त्री-शिक्षा का लक्ष्य सम्भवतः सद्गृहणी बनना ही रहा होगा। किन्तु प्राचीन काल की गृहिणी का कार्यक्षेत्र घर की चहारदीवारी तक ही सीमित रहा होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। गृहिणी के रूप में भोजन बनाने वाली स्त्री समय पड़ने पर देश का शासन कार्य सम्भाल सकती थी, बच्चों को पालने वाली माता समाज, जाति तथा देश-सम्बन्धी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर, अपनी राय प्रकट कर सकती थी।

किन्तु काल की गति अद्भुत है। एक समय आया जब कि गार्गी, मैत्रेयी, सुलभा, सावित्री की सन्तान बिल्कुल निरक्षरा बन गई। भारत से स्त्री-शिक्षा का लोप हो गया। इस समय न स्त्री-शिक्षा रही

ारे पर नाचने वाली पत्नी है; पुत्र के लिये उसके सहारे रहने
 वृद्धा माता है। वह शिक्षिता है तो क्या। समाज की आँखों में
 भी वह परतन्त्रता में ही पनपने वाली अबला है, घर के अन्दर
 की इच्छा पालन करने वाली कठपुतली और बच्चों का लालन-
न करने वाली परिचारिका है। मनु के वह वाक्य 'स्त्री स्वातन्त्र्यं
र्हति' आज भी सजीव होकर उसके कानों में गूँज रहे हैं, जीवन
 क्षेत्र में वह इन्हीं की छाप देख रही है। ऐसी अवस्था में उसे
पने ध्येय की प्राप्ति का केवल एक मार्ग दीखता है और वह है स्त्रीत्व
 ही अपने अन्दर से नष्ट कर देना। वर्तमान समय में शिक्षिता
 स्वतन्त्र होने के लिये उत्सुक हो रही है। स्त्रीत्व उसके मार्ग में
 रुकावट है, विघ्न है। इसलिये अपनी स्वतन्त्रता की खातिर आज वह
 अपने स्त्रीत्व को मिटा देगी, स्वतन्त्रता की वेदी पर आज वह
 को बलिदान कर देगी, किन्तु संसार की आँखों में नीची बनकर
 न रहेगी—यही आज की शिक्षिता नारी का सङ्कल्प दिखाई देता है।
 के जीवन का लक्ष्य बहुत अंशों तक उसकी शिक्षा का लक्ष्य भी
 है और आज भी यही उसकी शिक्षा का उद्देश्य है। अब आर्थिक
 ता प्राप्त करना स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य नहीं रहा, जैसा कि अब
 से कुछ वर्षों से पूर्व था। अब तो पुरुष के बराबर हो जाना, हर क्षेत्र
 पुरुष की बराबरी करना, स्त्री शिक्षा का लक्ष्य बन गया है।

आज शिक्षिता स्त्री के हृदय में क्या विचार उठ रहे हैं? वह
 सोचती है—घर के अन्दर रह कर कोल्हू के बैल की तरह पिस कर
 उसके हाथ क्या आया—अपमान और पराधीनता! जिस घर में रह
 कर उसे आत्मसम्मान और आजादी से हाथ धोना पड़ा हो उसका
 कार्यक्षेत्र अदालतों दफ्तरों, कारखानों और सिनेमाघरों में होगा—पुरुष
 का कार्यक्षेत्र ही उसका कार्यक्षेत्र होगा। जब स्त्री के अन्दर मनुष्यता
 से स्त्रीत्व की ओर ले जाने वाले गुण मौजूद थे तब इसकी स्थिति
 मनुष्यों से नीचे होती थी। अब जब कि स्त्री ने पुरुष की

बैठने की शपथ ले ली है तब क्या उसे उन दिव्य गुणों को तुच्छ न देना पड़ेगा। शिक्षित स्त्री की दृष्टि में अपने गुणों की अपेक्षा पुरुष के अवगुण अधिक अच्छे हैं, मानवता को चकित कर देने वाले स्त्रीत्व की विशेषताओं की अपेक्षा पुरुष की निर्बलतायें अधिक मान्य हैं। उसके लिये 'स्त्रीत्व' और 'दासत्व' दोनों समानार्थक शब्द हैं। इसलिये स्त्रीत्व के चिह्न उसके दासत्व के चिन्ह हैं। वह उन सब चिन्हों को मिटा देना चाहती है, जिन्हें वह मिटा सकती है। यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी की नारी की वेश-भूषा, रहन-सहन, आमोद-प्रमोद के तरीके सब पुरुष जैसे होते जा रहे हैं। वह स्त्रीत्व को मिटाने और पुरुषत्व को अपनाने में बहुत अंशों तक सफल हो रही है। स्त्रीत्व को खोकर भी वह समाज में पुरुष के बराबर स्थान प्राप्त कर सकेगी या नहीं—जिस स्वतन्त्रता को वह भूखी है वह मिल सकेगी या नहीं—यह अभी भविष्य के गर्भ में है।

थोड़े से समय के अन्दर, हमने देखा कि स्त्री-शिक्षा के उद्देश्य ने अनेकों रूप बदले। यह भी देखा कि इन परिवर्तनों को लाने, इन उद्देश्यों को ढालने में पुरुष का कितना अधिक हाथ रहा है। वास्तव में स्त्री-शिक्षा को अपने अन्तिम उद्देश्य तक पहुँचाने की पूरी जिम्मेदारी ही पुरुष पर है। स्त्रीत्व को मिटा देने का संकल्प जो इस समय स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य बन गया है, सदियों से स्त्री पर पुरुष द्वारा किये गये अत्याचारों का परिणाम है।

किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी क्या शिक्षिता बहिनें अपने [illegible]
[illegible]
[illegible]
का कल्याण नहीं हो सकता। स्त्रीत्व विश्व की अमूल्य विभूति है।

आत्म-चरित

(श्री कुँवर राजेन्द्रसिंह)

जीवन-चरित्र लिखना कोई मामूली कला नहीं है, और आत्म-चरित्र लिखना तो लोहे के चने चबाना है। आत्म-चरित्र के लिखने की प्रथा इँग्लैंण्ड में १८ वीं शताब्दी के अन्त के कुछ पहले आरम्भ हुई थी। पहले दफे 'आटोबायग्राफी' (स्वलिखित जीवन-चरित) शब्द का प्रयोग अंगरेजी-भाषा में सन् १८०६ में हुआ था। इसके पहले ऐसे लेखों को 'जीवन-वृत्तान्त स्वयं लेखक-द्वारा लिखित', 'स्मरण लेख', 'जीवन-चरित स्वयं जिसे नायक ने लिखा हो', 'स्वयं लिखित इतिहास' इत्यादि कहते थे। केवल १६ वीं शताब्दी से यह माना गया कि इतिहास से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्म-चरित्र के ढंग पर वहाँ सन् ७३१ में कुछ लिखा गया था, और फिर सन् १५७२ तक इस ओर कोई उद्योग नहीं हुआ।

है कि अपने विषय में क्या लिखे और क्या छोड़ दे। मनुष्य गुणों और [illegible] का सम्मिश्रण है। यह असम्भव है कि किसी में कोई गुण [illegible] या किसी में कोई अवगुण न हो। यह यर्के का कथन है कि [illegible] त्रुटियों के कारण उससे झगड़ा करना ईश्वर की शिल्पकला [illegible] आक्षेप करना है।' स्टीवनसन की भी एक कविता का ऐसा ही आशय है। उसने कहा है कि 'हम लोगों में जो बुरे-से-बुरे हैं उनमें

में इतनी अच्छाइयाँ हैं, और जो हममें अच्छे से अच्छे हैं उनमें भी इतनी बुराइयाँ हैं कि हममें से किसी के लिए यह उचित नहीं है कि अन्य सभी के खिलाफ़ कहें।' यदि लिखनेवाला अपने गुणों का उल्लेख करे तो यह कहा जायगा कि आत्मप्रशंसा का गान अलाप रहा है, और यदि चुप हो जाय तो तुला एकांगी रहेगी और लेखन-कला दोष-युक्त होगी। जीवन-चरित का, चाहे वह स्वलिखित हो या किसी दूसरे के द्वारा लिखा गया हो, मुख्य उद्देश्य यह है कि चरित-नायक अपने स्वाभाविक स्वरूप में पढ़ने वालों के सामने आ जाय। यदि जीवन-चरित में केवल उसके गुणों का ही उल्लेख किया जायगा तो शायद ईश्वर को लोग भूल जायँगे, और यदि उसी तरह गुणों को छिपा कर केवल अवगुणों की ही सूची दे दी जायगी तो उनमें और शैतान में क्या फ़र्क़ रह जायगा।

दूसरी कठिनाइयाँ यह होती हैं कि आत्म-चरित में छोटी-छोटी घटनाओं का उल्लेख छूट जाता है। यह नहीं है कि लेखक उन्हें लिखना नहीं चाहता है, किन्तु कारण यह होता है कि उसकी दृष्टि में उन घटनाओं का कोई महत्त्व नहीं होता। वास्तव में छोटी ही घटनाओं से चरितनायक के असली स्वरूप के पहचानने में सहायता मिलती है, जैसे तिनका हवा के रुख को बतला देता है। किसी के भी जीवन में सब बड़ी ही घटनायें नहीं घटित होती हैं—छोटी और बड़ी घटनाओं के सम्मिलित समूह का नाम जीवन है। हाँ, इस पर अवश्य ध्यान रखना पड़ता है कि ऐसी बातें न लिखी जायँ जो मामूली से भी मामूली हों। वे बातें आत्म-चरित्र में स्थान पाने के योग्य नहीं हैं जिनमें स्वाभाविकता न हो। चरित-नायक की वैसी तसवीर होनी चाहिये जैसा वह है न कि जैसा फाउन्टेन का फोटो होता है कि सिर को तोड़-मरोड़ कर ठुड्डी को आगे या पीछे दबाकर, एक अस्वाभाविक ढंग कर दिया जाता है। वह फोटो किसी का असली फोटो नहीं

वाली नहीं कहलाती हैं। कम-से-कम आत्म-चरित लिखनेवालों को अपने पथ से नहीं हटना चाहिए, यद्यपि कुछ लोगों का यह मत है कि "वह न कहो जो तुम्हें कहना है, वरना वह कहो जो लोग सुनना पसन्द करते हों।"

इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी मनुष्य को अपना आत्म-चरित लिखना चाहिए। यदि इसके लिखने में सावधानी से काम लिया जाय तो लोगों का इससे बड़ा उपकार होता है—आँखें खुल जाती हैं। "पहले से सचेत हो जाना सशस्त्र हो जाना है," जैसा कि अँगरेज़ी में एक कहावत है। वृत्तान्त कहने मे साहित्यिक कला की बड़ी आवश्यकता नहीं होती। यह तो बहुत अच्छा है ही कि साहित्य भी स्वादु हो परन्तु यदि न हो तो कुछ हर्ज भी नहीं है। किसी चीज़ पर वार्निश करने से उसका प्राकृतिक रंग जाता है। यह प्रायः देखा गया है कि सीधे और सादे ढङ्ग से कहा हुआ अनुभव अधिक प्रभावशाली होता है। बाज़ों का यह कहना है कि आत्म-चरित मनोरंजक नहीं होते बात यह है कि जैसा जिसका दृष्टिकोण होगा उसको उसी ढंग का साहित्य पसन्द होगा और उसी से उसका मनोरंजन होगा। 'मनोरंजन' उन शब्दों में से एक है जिसका अर्थ प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छानुकूल समझता है। यदि एक चीज़ एक को मनोरंजक मालूम होती है तो उसी से दूसरे का कोई मनोरंजन नहीं होता। आत्म-चरित का क्या दोष है? यह सम्भव है कि उसके लिखने में योग्यता से काम न लिया गया हो, महत्वपूर्ण घटनायें छूट गई हों, मामूली बातों का सविस्तार वर्णन हो गया हो, स्वाभाविकता का अभाव हो या चरितनायक इस रंग में रंगा दिखाई दे जो उसका प्राकृतिक रंग न हो। नहीं तो आत्म-चरितों से पढ़ने वालों का बड़ा मनोरंजन होता है। यह एक मसल मशहूर है कि जीवन एक नाटक है और इसकी सत्यता आत्म-चरित पढ़ने से ही मालूम होती है। जीवन के नाटक में कल्पना को

नहीं होती—केवल आवश्यकता होती है सीधे-सादे वर्णन
द उठते और गिरते जाते है। उन लोगों की भी संख्या कम
जिनका यह विचार है कि उन लोगों की अपेक्षा जो 'लक्ष्मी
हलाते हैं, उनका जीवन-चरित अधिक शिक्षाप्रद और मनो-
ता है जिन्हें दुनिया का मुकाबिला करना पड़ा है। अच्छे
ाइयों को प्रकट कर देते हैं और बुरे दिन अच्छाइयों को।
चाहे जैसा हो—चाहे लक्ष्मी का पुत्र हो या शत्रु हो, चाहे
न् हो या महान् चरित्रभ्रष्ट हो उसे अपना आत्म-चरित अवश्य
चाहिए। सम्भव है कि जिस अनादर की दृष्टि से वह आज
जा रहा है उस दृष्टि से वह कुछ समय के बाद न देखा जाय,
उसे अपने पक्ष में कुछ कहने का मौका मिले। इन सब बातों
हने का उचित स्थान आत्म-चरित ही है। इससे क्या यह सम्भव
हैं कि यदि उनकी भी सुन ली जाती जिनपर दोषारोपण किये
ये तो उनके विषय में हमारी राय में परिवर्तन हो जाता। निर्णय
चाहे जो करते, पर वह निर्णय अधिक ठीक होता।

अब यह प्रश्न सामने आता है कि स्वलिखित जीवन-चरित का
या ढङ्ग हो। जैसे हर एक आदमी को बातें करने, और अपने भावों
को प्रकट करने का ढङ्ग पृथक् २ होता है, वैसे ही आत्म-चरित लिखने
का भी होता है। उद्देश्य एक ही है और वह यह कि जो हम कहा
चाहते हैं वह अच्छी तरह कह डालें। किसी लेखक का सर्वोत्तम गुण
यह है कि वह ऐसी भाषा का प्रयोग करे कि सुनने या पढ़नेवालों के
लिये असम्भव हो जाय कि वे सिवा उन अर्थों के कोई और अर्थ न
लगा सकें जो लिखनेवाले या बोलनेवाले के हैं। मनुष्य के छोटे
से छोटे काम में भी उसकी आत्मा की झलक दिखाई देती है और
यही झलक आत्म-चरित का आधार है और उसी से चरित-नायक का
भी पता चलता है। बहुत आदमियों को यदि दिल खोलने का मौका

लेख यदि इस दृष्टि से लिखा गया है कि वह प्रकाशित किया [illegible] तो उसमें भी बहुत-सी बातों पर कृत्रिम रंग होगा। स्वाभाविक [illegible] तो वह है जिस ढङ्ग से मनुष्य कुछ सोचता है। चाहे कुछ लिख [illegible] अत्युक्ति की मलक आ भी जाय तो भी अपने अनुभवों का [illegible] करना चाहिये। अनुभवों में यही शिक्षा मिलती है—अनुभव ही [illegible] शिक्षक हैं—चाहे वे सरलता के परमोच्च शिखर के हों और [illegible] अधमता की अथाह गहराई के हों। दोनों से शिक्षा ग्रहण की [illegible] सकती है। यदि इस देश के किसी बड़े-से-बड़े आदमी से भी कहा [illegible] कि आप अपना आत्म-चरित लिख दें तो वह शायद यही कहेगा कि [illegible] क्या है जिसका उल्लेख करूँ। इस संकोच से कम से कम उनके [illegible] वाले उसके अनुभवों से वंचित रह जाते हैं। अन्य देशों में नट [illegible] और नर्तकियाँ भी अपना जीवन-चरित लिखती हैं या स्मरण [illegible] रखती हैं। यद्यपि उद्देश्य जेब गरम करने का होता है तो भी [illegible] अपने विषय में जो कुछ कहना होता है वह तो कह ही लेती हैं। [illegible]

तीसरा साधन आत्म-चरित का पत्र है। इनके लिए 'द्वितीय पु[illegible] की आवश्यकता होती है। इनमें भी तभी स्वाभाविकता आवेगी [illegible] इनका अभिप्राय प्रकाशित करने का न हो। यद्यपि इनमें नित्यप्रति [illegible] घटनाओं का उल्लेख नहीं होता है, तो भी इनसे अच्छी तरह [illegible] किसी ढङ्ग से लेखक का मत प्रकट नहीं हो पाता। अंग्रेजी भाषा [illegible] सुप्रसिद्ध पत्र लेखक हो गये हैं और सबसे बड़ा नाम चेस्टरफील्ड [illegible] है। उन्होंने अपने पुत्र के नाम पत्र लिखे थे और उनमें अच्छे उप[illegible] दिये हैं। ये गुण होते हुए भी वे वास्तव में पत्र नहीं हैं। यही [illegible] बहुतों ने की है। एक न तो अपने पुत्र को पत्र लिखने में लज्जा [illegible] तिलांजलि देकर यह लिखा है कि उसका जीवन उसकी स्त्री के साथ कैसा व्यतीत हुआ था। ऐसी पुस्तकें मृतजात-शिशु के समान होती हैं। अस्तु, आज-कल उन्हीं जीवन-चरितों की धूम होती है जिनमें

अपने जीवन के वृत्तान्त और अनुभवों को हमें सीधे-सा स्वाभाविक रीति से वर्णन कर देना चाहिए। आखिर गोल्ड ने लिखा है कि इसका ध्यान रखना चाहिए कि यथार्थवादें के बोझ से दब न जायँ। हम सबको अपने इस कठिन सफल समझना चाहिए, यदि एक व्यक्ति का भी गलत रास्ते पड़ने से बच जाय और इसी तरह कुछ न कुछ अपने साहित्य ह हो जाय। एक दफे स्वर्गीय गोपाल कृष्ण गोखले ने एक सम्बन्ध में कहा था कि 'वे लोग थोड़े दिनों बाद आवेंगे जो र से देश की सेवा करेंगे। हम सबको तो अपनी असफलताओं सेवा करना है।'

प्राचीन काल के अन्तःपुर

(श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी)

सन् ईसवी के आस-पास भारतवर्ष की नागरिक सभ्यता काफी समृद्ध हो गई थी। इन दिनों भारतवर्ष का व्यवसाय-वाणिज्य संसार के अन्यान्य समृद्ध देशों के साथ खूब चल पड़ा था। देश में सम्पत्ति की प्रचुरता थी और उसके फल-स्वरूप नागरिकों में काफी विलासिता बढ़ गई थी। तात्कालिक काव्यों, नाटकों और कथा-काव्यों में समृद्धि का परिचय पाया जाता है। उस युग के साहित्य को समझने के लिये नागरिकों की रहन-सहन का जानना नितान्त आवश्यक है। यहाँ उस युग के अन्तःपुर का परिचय देने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस परिचय में यथासम्भव कोई भी बात अपनी ओर से न कही जायगी। सब कुछ उस युग के ग्रन्थों के आधार पर कहने की कोशिश की जायगी।

सन् ईसवी की दूसरी या तीसरी शताब्दी में वात्स्यायन ने कामसूत्र नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ बड़े महत्त्व का है, क्योंकि काव्यों या नाटकों की तरह इसमें केवल आदर्श-चरित्रों की कल्पना नहीं की गई है, बल्कि उस युग की वास्तविक परिस्थिति ही उसमें बताई गई है। वात्स्यायन का आदर्श नागरिक-जीवन है। नगर में रहने वाले सुसंस्कृत कला-प्रेमी पुरुषों को वात्स्यायन ने 'नागर' या 'नागरिक' कहा है। इन नागरिकों के गृह बड़े ठाट-बाट के हुआ करते थे। प्रत्येक गृह के दो हिस्से हुआ करते थे। भीतर के जनाना महलों को अन्तःपुर कहते थे और बाहर स्वयं 'नागरिक' के रहने का मर्दाना बैठक-घर हुआ करता था। यहाँ नागरिक अपने काम-काज देखा करता

था और मित्रों और मिलने वालों से मिला करता था। कामसूत्र में नागरिक के सुसज्जित बैठक खाने का बड़ा सुन्दर वर्णन दिया है। परन्तु आज हम इस बैठक-खाने की बात नहीं करेंगे।

अन्तःपुर से लगा हुआ सामने की ओर एक बाग हुआ करता था। इसे वात्स्यायन ने 'वृक्ष वाटिका' कहा है। ईसा की छठी शताब्दी में वराहमिहिर ने बृहत्संहिता नाम की जो पुस्तक लिखी है उससे जान पड़ता है कि इन बगीचों के पुरोभाग में और वास गृह के सामने अरिष्ट, अशोक, पुन्नाग, शिरीष और प्रियंगु के वृक्ष लगाये जाते थे। ये वृक्ष मांगल्य समझे जाते थे। इन बगीचों के बीच में कूप खोदे जाते थे और अगर जगह ज्यादा होती थी तो वापी भी खोदी जाती थी। गृह-स्वामिनी का यह कर्तव्य होता था कि वह वृक्षों की देख-रेख करे। चतुर गृहिणियाँ इन बगीचों में साग-भाजी की खेती भी कर लेती थीं। वात्स्यायन ने इन साग भाजियों की एक लम्बी फेहरिस्त दी है। पाठक-पाठिकाएँ यह सुन कर प्रसन्न होंगी कि उन दिनों की साग-भाजी भी प्रायः वही है जो आजकल हम लोग पसन्द करते हैं। मूली, आलुक, पालङ्क (पलक्षी), दमनक (पुष्प विशेष) आम्रातक (आमड़ा), गर्वामक (गुधनी), त्रपुस (खीरा), वर्ताक (बैंगन), कुष्मांड (सफेद कुम्हड़ा), अलाबु (लौकी), सूरण शुक-नासा (टेंड़), स्वयंगुप्ता, तिलपर्णिक (?), अग्निमन्थ (?), लशुन पलाण्डु (प्याज) इत्यादि साग-भाजी हमारे निकट अब भी ज्यों की त्यों हैं। यही नहीं, ईख, नीबू जम्बीर, सरसों, अजवायन, सौंफ आदि उपयोगी चीजें भी गृहिणियाँ उपजा लिया करती थीं। नाना जाति के सुन्दर और सुगन्धित पुष्पों के लिये तो ये बगीचे हुआ करते थे। फूलों और झाड़ियों की नयनाभिराम क्यारियाँ गृहस्वामिनी के विशेष यत्न और आदर की चीजें हुआ करती थीं। फूलों में जाती, मल्लिका, नवमल्लिका आदि गन्ध-प्रधान पुष्पों के [illegible] आदि

गन्धहीन दर्शनीय पुष्प भी हुआ करते थे। साथ ही वालक उशीर (खस) आदि सुगन्धित पत्र वाले पौदे भी लगाये जाते थे। इन वाटिकाओं में स्थान-स्थान पर बैठने की जगहें हुआ करती थीं। जहाँ अन्तःपुरिकायें आकर सुबह-शाम बैठा करती थीं। जगह-जगह झूले भी लगे रहते थे। राजा-महाराजाओं और धनी-मानी गृहों की वृक्ष-वाटिकाओं में नकली पहाड़, झील आदि भी बने रहते थे। चाँदनी का आनन्द उपभोग करने के लिये कौमुदी-गृह हुआ करते थे।

अल्प वित्त की स्त्रियाँ प्रायः इन धनी आदमियों के घर उद्यान-क्रीड़ा के लिये जाया करती थीं। इस प्रकार इन बहु-व्यय-साध्य विलास-सामग्रियों का उपभोग साधारण जनता भी कुछ-न-कुछ कर लिया करती थी।

वाटिका से संलग्न अन्तःपुर में बाहर का कोई आदमी प्रवेश नहीं कर पाता था। नागरिक के बाहरी बैठकखाने में जिस प्रकार सब प्रकार के आदमियों की भीड़ लगी रहती थी उस प्रकार गृह-स्वामिनी के यहाँ भीड़ नहीं होती थी। भास के 'चारुदत्त' नाटक की नायिका वसन्तसेना इस बात के लिये अपने को अभागिनी समझती है कि वह चारुदत्त के अन्तःपुर में नहीं जा सकती। 'कादम्बरी' में बाहरी बैठकखाना और भीतरी अन्तःपुर का एक स्थान पर वर्णन किया गया है। इससे इस युग के बाहरी और भीतरी महल का विरोध स्पष्ट ही समझ में आ जायगा।

"इस प्रकार चन्द्रापीड ने सात कक्षाएँ अतिक्रमण करने के बाद हंस के समान धवलवर्ण शय्या पर आसीन पिता को देखा। शरीर-रक्षा कार्य में नियुक्त कई आदमी उन्हें घेरे खड़े थे। सदा अस्त्र धारण करने के कारण इन आदमियों की हथेली में घट्टा पड़ गया था और हाथ, पैर, आँखों को छोड़कर बाकी शरीर काले लोहे वर्म से आच्छा-

ष्ठित था और नौकर राजा के दोनों ओर अविश्रान्त भाव से चामर झुला रहे थे।

इसके बाद चन्द्रापीड अन्तःपुर में माता के पास पहुँचे। क्षीरोद सागर के महातरङ्ग जिस प्रकार लक्ष्मीदेवी को एक समय परिवेष्टित किये हुए थे, उसी प्रकार शुभ्रवर्ण कञ्चुक से ढके हुए, निर्दोष स्वभाव बहुसंख्यक कञ्चुकी महारानी विलासवती को घेरे थे। अत्यन्त सौम्यमूर्ति, कषाय वस्त्रधारिणी सन्यासिनियाँ आस-पास बैठी थीं। उनमें से कुछ प्राचीन उपाख्यान सुनाती थीं, कुछ महाभारत आदि का पाठ करती थीं, कुछ धर्मोपदेश सुना कर महारानी का मनोविनोद करती थीं। वर्षवर (खोजे) स्त्रियों के समान रूपधारण कर अत्युज्ज्वल अलङ्कारों से सज्जित होकर महारानी की सेवा कर रहे थे, परिचारिकाएँ अनवरत चामर झल रही थीं। कुछ परिचारिकाएँ वस्त्र, आभरण, पुष्प, पटवास, ताँबूल (पान), तालवृन्त (पङ्खा), अङ्गराग आदि लेकर मण्डलाकार खड़ी थीं। महारानी के हृदय-देश पर एक मुक्ता का हार सुशोभित था।

राजाओं के अन्तःपुर जैसे सुसज्जित अन्तःपुर सबको सुलभ तो न थे, पर छोटे मोटे पैमाने पर प्रत्येक नागरिक अपना अन्तःपुर उसी आदर्श पर बनवाया करता था। साधारणतः मकान नगर की रथ्या (रथ के जाने योग्य सड़क) के दोनों किनारे हुआ करते थे। किसी विशेष अवसर पर, उदाहरणार्थ राजा की सवारी निकलने पर या राजकुमार के विवाह आदि के अवसर पर जुलूस (यात्रा) को देखने के लिये पुर सुन्दरियाँ अन्तःपुर महलों के गवाक्षों (खिड़कियों) से झाँका करती थीं। इस दृश्य का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन रघुवंश और कादम्बरी में आता है। बाणभट्ट ने इन पुररमणियों के आवा-

ोर का भी बड़ा सजीव वर्णन किया है। अपने पति की आज्ञा से
स्त्रियाँ धार्मिक उत्सवों और यात्राओं में शामिल हो सकती थीं,
परन्तु सब समय उसकी रक्षा की चिन्ता घर-घर के पुरुषों को रहा
करती थी। उस युग का आदमी स्त्रियों की रक्षा के लिये सदा सचेष्ट
रहता था। वात्स्यायन, मनु की भाँति ही; स्त्रियों को सदा रक्षणीय
समझते हैं।

अन्तःपुर के भीतर भिक्षुणियों का अबाध प्रवेश था, पर जान
पड़ता है ये भिक्षुणियाँ भले घर की स्त्रियों को बहकाने लगी थीं।
कामशास्त्र में इन्हें इस काम के लिये दूती बनाने को भी कहा गया
है। वात्स्यायन ने स्पष्ट शब्दों में इन्हें अन्तःपुर में प्रवेश करने के
अयोग्य कहा है। नाइनें, मालिनें और इसी प्रकार की अन्यान्य परि-
चारिकाओं को बाहर भीतर आने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। कभी-कभी
सुनार, मनिहार, जोहरी आदि पुरुष भी अन्तःपुर में जा सकते थे,
इन्हें पर्दे की ओट में बात करने की आज्ञा होती थी। ब्राह्मण भी
पूजा-पाठ और आशीर्वाद देने के लिये भीतर जा सकते थे और इन्हें
भी पर्दे की ओट में रहना पड़ता था। राजाओं के अन्तःपुरों में
कञ्चुकी और महत्तरिकायें हुआ करती थीं जो बाहर और भीतर
उपहारों के आदान-प्रदान का काम करती थीं।

अन्तःपुर में सम्मिलित परिवार-प्रथा का कुछ विशेष परिचय नहीं
मिलता। गृहिणी के देवरों की तो चर्चा मिल जाती है, और उसके
सास-ससुर का भी हाल मालूम हो जाता है, लेकिन देवरानी, जेठानी
आदि का कोई उल्लेख नहीं मिलता। ऐसा जान पड़ता है कि सम्मि-
लित परिवार-प्रथा उस समय उतनी जटिल नहीं हो गई थी जितनी
आज है।

ा भेजना ठीक नहीं समझा जाता था। फिर भी किसी-किसी लड़की
ों अपूर्व कला का परिचय मिलता था। ललित विस्तर के अनुसार
सिद्धार्थ की पत्नी 'शास्त्रे विधिज्ञ कुशला गणिका यथैव' थी।

अन्तःपुर में धनियों की अनेक पत्नियाँ रहा करती थीं। लेकिन
साधारण नागरिक प्रायः बहु विवाह नहीं करते थे। बहुत पत्नियों का
अन्त पुर निश्चय ही दुःखमय रहा होगा। वात्स्यायन ने इन अन्तःपुरों
के बारे में कई गुरुतर सन्देह रखने का उपदेश दिया है। कभी-कभी
[illegible]
और काशिराज की देवी ने विष-दग्ध नूपुर से पति को मार डाला
था। लेकिन ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

अन्तःपुर की देवियाँ चित्र-कला में बहुत चतुर हुआ करती थीं।
घर के काम-काज से छुट्टी पाकर वे चित्र बनाया करती थीं। अन्तःपुर
की दीवालें अनेक चित्रों से सुसज्जित हुआ करती थीं। इनमें के अधि-
कांश चित्र स्त्रियों के बनाये होते थे। दस्तकारी की कला खूब उन्नति
पर थी। घर की सुरुचिपूर्ण उपादानों से सज्जित करना गृहिणी का
प्रधान कर्तव्य था। कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रो०एच०सी०चाकला-
दार महोदय ने उन दिनों की सामाजिक अवस्था के सम्बन्ध में एक
बहुत सुन्दर लेख लिखा है। उसमें वात्स्यायन के युग की कला-निपुणता
पर अच्छा प्रकाश पड़ा है। इस लेख में हमने उक्त लेख से सहायता
भी ली है। पाठक स्वयं भी उसे देख सकते हैं।

गृह—स्वामिनी के शयन-कक्ष के बाहर शुक (तोते) और
सारिकाओं (मैनों) के लिये स्थान बने होते थे। काम-काज से थकी
गृहिणियाँ इनसे मनोविनोद किया करती थीं कालिदास की परिकल्पित

गृहों के घर के सामने ऐसी सारिका थी। रत्नावली नाटिका की सारिका ने ही राजा का रहस्योद्घाटन किया था। मृच्छकटिक की नगरश्री वसन्त सेना के घर के सातवें प्रकोष्ठ में (अर्थात् सबसे भीतर वाले आँगन में) पञ्जर शुक और मदन सारिका टँगी हुई थीं। शुक और सारिका के अतिरिक्त अन्तःपुर के सामने कोकिल और कपोत भी दिखाई देते थे। उन दिनों कपोत हर गृह में पाले जाते थे। कुछ तो इनका भवन के मुण्डेरों पर रहना शुभ-सूचक माना जाता था और कुछ इनसे चिट्ठी-पत्री भेजने का काम लिया जाता था। अन्तःपुर के भीतर सारस और तित्तरों के रहने की भी चर्चा मिलती है। शायद तित्तरों की लड़ाई अन्तःपुरिकाओं के मनोविनोद का साधन रहा हो। निकटवर्ती वाटिका में मयूर विचरण किया करते थे। कभी-कभी मृदङ्ग-ध्वनि से कल्पित मेघ ध्वनि उत्पन्न करके उन्हें नृत्य के लिये उत्तेजित किया जाता था।

जैसा कि पहले ही बताया गया है, राजा या किसी धनीमानी के घर प्रायः नागरिक स्त्रियों की गोष्ठियाँ हुआ करती थीं। इन गोष्ठियों में केवल स्त्रियाँ ही जा सकती थीं। इनमें गान और नृत्य हुआ करते थे। विशेष-विशेष अवसरों पर पड़ोसी के घर प्रायः गोष्ठियों का आयोजन होता था! कभी-कभी ऐसी गोष्ठियों को सन्देह की दृष्टि से भी देखा जाता था। परन्तु साधारणतः ऐसा नहीं हुआ करता था। गोष्ठियों में तित्तरों, भेड़ों की लड़ाई आदि के द्वारा भी मनोविनोद किया जाता था। तत्कालिक काव्यों, नाटकों और आख्यायिकाओं से अन्तःपुरिकाओं के सेवामय और सन्तोषमय जीवन का अच्छा परिचय मिलता है। बाहरी बैठकखाने की विलासितामय चहल-पहल के न होते हुए भी अन्तःपुर नितान्त नीरस या केवल धर्ममय स्थान न था। वहाँ भी आनन्द था, रस था, और सबसे बढ़ कर सन्तोष था। उस युग की गृहिणी सेवसी थी और देवी थी।

और अब आज वर्ष और पौतन पर मैं ज्वालामाई के मन्दिर के द्वार पर हूँ। मन्दिर के फाटक पर नागरी का लेख (पाँच पंक्तियों) में इस प्रकार है —

> "॥ ६० ॥ श्री गणेशाय नमः ॥ स्वो १
> क ॥ स्वस्ति आनवति विक्रमादित्य २
> ऽ माके ॥ श्री ज्वालाजी निमित दरवा ३
> जा बणाया। अतीकचन गिर सन्यासी ४
> रामदहा वासी कोटेश्वर महादेव का
> आसोज वदि ८। सम्वत् १८६३॥"

चन्द्र तिथि, 'निमित' और 'बणाया' पर ख़याल करने से मालूम होता है, अतीकंचन गिर हरियाना या कुरुक्षेत्र के समीप के रहने वाले थे संस्कृत न जानने पर भी वे साक्षर थे, क्योंकि संयुक्त अक्षरों में उन्होंने ग़लती नहीं की है। दरवाज़ा खोलते वक्त तवारिश अना ने कहा—"यह न-जाने कब के और कहाँ के अक्षर हैं। बड़े-बड़े प्रोफ़ेसर देखने आये, किन्तु कोई नहीं पढ़ सका।"

मैंने कहा—"यह उत्तरी-भारत में सर्वत्र प्रचलित हिन्दी भाषा तथा नागरी-लिपि का लेख है सन् १८०६ में सवा सौ वर्ष पूर्व, दरवाज़ा बनाने वाले साधु ने इसे लगवाया है।"

अना ने बहुत आश्चर्य प्रकट किया मेरे अगाध लिपि-ज्ञान पर।

"आश्चर्य को कोई बात नहीं। यह अक्षर भारत में उतने ही सुपरिचित हैं, जितने रूसी अक्षर रूस में। आपके साथ आने वाले प्रोफ़ेसर लोगों का विषय भारतीय लिपि न रहा होगा।"

बुढ़िया ने दरवाज़ा खोला। भीतर बड़ा आँगन है, जिसके बीच में एक चौकोर पक्का मण्डप है। भारत के सभी मठों की भाँति आँगन चारों ओर से साधुओं के रहने की कोठियों से घिरा है। शायद लकड़ी की महँगाई से अथवा मज़बूती के ख़्याल

कोठरियों की छतें चूने-पत्थर के पटाव या लदाव का मेहराबदार बनी हैं। कितनी ही कोठरियों पर बनाने वाले दाताओं के नाम के शिला-लेख लगे हैं। इनकी संख्या दस-ग्यारह होगी, जिनमें दो गुरुमुखी में भी हैं। इनके लेखक पंजाब के उदासी साधु थे। समय इतना नहीं था कि मैं और लेखों को पढ़ता और नक़ल करता। मंडप में जाकर खड़ा हुआ। वहाँ चौकोर हवनकुण्ड सा अब भी मौजूद है, पर अब ज्वालामाई नहीं है। तवारिश ख़ना ने बतलाया—"दस वर्ष पूर्व तक यहाँ अग्नि-ज्वाला निकलती थी।"

मैंने पूछा—"ज्वाला बन्द कैसे हुई ?"

"स्वाभाविक गैस यहाँ से धरती फोड़ कर निकलती रही होगी, जैसा कि अकसर तेल-क्षेत्रों में देखा जाता है। धरती के नीचे रगड़ खाकर या बाहर से किसी के आग लगाने से गैस जल उठी होगी। एक बार जल जाने पर ऐसी गैस का रोकना है तो जलती बारूद के रोकने जैसा ही खतरनाक, पर अब कुछ उपाय मालूम हो गये हैं, जिन से इस ज्वाला को शान्त किया गया होगा।"

मुझे ज्वालामाई के अन्त पर बड़ा अफ़सोस हुआ—विशेषकर यह ख़याल करके कि ज्वालामाई यही थी, काँगड़ेवाली तो छोटी ज्वालामाई है।

कितनी ही कोठरियों को भीतर से जाकर देखा। किन्हीं-किन्हीं की दीवारों पर अब भी प्लास्टर है, जिस पर कुछ भद्दी मूर्तियाँ भी हैं। किन्हीं-किन्हीं में आसन लगाने के चबूतरे भी हैं। कहीं धूनी की राख की कालिख भी मौजूद है। यहीं जलती धूनी के किनारे विराजे उदासी साधु दिग-दिगन्त से घूमते आकर बैठते होंगे। यहाँ सुलफे और गाँजे की चिलम-पर-चिलम चढ़ती होगी, और सन्तजन चल्ला मारे अपनी-अपनी यात्रा के अतिरंजित वर्णन सुनाते रहे होंगे। इस में तो शक नहीं कि भारत से बाकू आना, अहिन्दू देशों से होकर, उस समय बड़ा हिम्मत का काम था।

आई, मुझे देखो, दुनिया खिलने के लिए है।' साँझ की बेला
मनुष्य को कुछ भीना-सा याद आई, और आम के पेड़ पर से कोय
बोल उठा कू कू कू कू। मिट्टी ने कहा, मुझे खोदकर, ठोक-पीटक
घर बनाओ, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी।' धूप ने कहा, 'सर्दी लगेगी से
के लिए मैं हूँ।' पानी खिलखिलाता बोला, 'घबराओ मत, मुझ
नहाओगे तो हरे हो जाओगे।'

मनुष्य प्राणी ने देखा—दुनिया है, पर वह सब उसके साथ है
फिर भी, धूप को वह समझ न सका, वर्षा के जल को, मिट्टी क
धूल को, किसी को भी वह पूरी तरह समझ न सका। क्या वे स
आत्मसमर्पण के लिए तैयार नहीं हैं! पर, उस क्षुद्र ने अहंकार
साथ कहा, 'ठहरो, मैं तुम सबको देख लूँगा। मैं 'मैं' हूँ, और
जीऊँगा।'

इस प्रकार अहंकार टेक बनाकर, अपने को क्षुद्र और सब
अलग करके वह जीने लगा। अर्थात्, सब प्रकार की समस्यायें खा
करके उनके बोध में उलझा हुआ वह जीने लगा। विश्व के सा
विभेद-वृत्ति ही, उसके जीने का शर्त बनकर उसके भीतर अपने क
चरितार्थ करने लगी।

पर, इस जीवन में एक अतृप्ति बनी रही जो विश्व के साथ मान
अभेद की अनुभूति पाने को भूखी थी। अहंकार से घिरकर वह अपन
क्षुद्रत्व के अवबोध से ग्रस्त हुआ,—त्यों ही विराट् से एक होक
अपने भीतर भी विराटता की अनुभूति जगाने की व्यग्रता उसमें
उत्पन्न हुई। इस व्यग्रता को वह भाँति-भाँति से शान्त करने लगा
यहीं। से धर्म, कला, साहित्य, विज्ञान—सब उत्पन्न हुए।

यह अभेद-अनुभूति उसके लिए जब इष्ट और सत्य हुई ही थी तभी
विभेद आया। एक आदर्श था तो दूसरा व्यवहार। एक भविष्य था

है दूसरा वर्तमान। इन्हीं—दोनों के संघर्ष और समन्वय में से मनुष्य जाति के जीवन का इतिहास चला और विकास प्रगटा।

मनुष्य की मनुष्य के साथ, समाज के साथ, राष्ट्र के और विश्व के साथ, (और इस तरह स्वयं अपने साथ, जो एक सुन्दर सामंजस्य,—एकस्वरता (हार्मनी) स्थापित करने की चेष्टा चिरकाल से चली आ रही है, वही मनुष्य जाति की समस्त संग्रहीत निधि की मूल है। अर्थात् मनुष्य के लिये जो कुछ उपयोगी, मूल्यवान, सारभूत पदार्थ है, वह ज्ञात और अज्ञात रूप में उसी एक सत्य-चेष्टा का प्रतिफल है। प्रक्रिया में मनुष्य जाति ने नाना भाँति की अनुभूतियों का भोग किया। सफलता की, विफलता की, क्रिया की, प्रति-क्रिया की,—हर्ष, क्षोभ, विस्मय आह्लाद, घृणा और प्रेम,—सब भाँति की अनुभूतियाँ जाति के शरीर ने और इतिहास ने भोगीं, और वे उन्हें के जीवन और भविष्य में मिल गईं। भाँति-भाँति से मनुष्य ने उन्हें अपनाया, और व्यक्त किया। मन्दिर बने, तीर्थ बने, पाठ बने,—वेद, शास्त्र, पुराण, स्तोत्र-ग्रन्थ बने,—शिलालेख लिखे गये, स्तम्भ खड़े हुए, मूर्तियाँ और स्तूप निर्मित हुए। मनुष्य ने अपने हृदय के भीतर विश्व से यथासाध्य खींचकर जो जो अनुभूतियाँ पाईं—मिट्टी, पत्थर, धातु अथवा ध्वनि एवं भाषा आदि को उपादान बनाकर, उन्हें ही रख जाने की उसने चेष्टा की। परिणाम में, हमारे पास ग्रन्थों का अटूट, अतोल संग्रह है, और जाने क्या-क्या नहीं है।

मानव-जाति की इस अनन्त निधि में जितना कुछ अनुभूति-भण्डार लिपिबद्ध है, वही साहित्य है। और भी, अक्षर-बद्ध रूप में जो अनुभूति-संचय विश्व को प्राप्त होता रहेगा, वह होगा साहित्य।

हिन्दी का बढ़ता हुआ शब्द-कोष

(श्री [illegible])

हिन्दी के शब्द कोष का विवेचन करने से पूर्व मुझे हिन्दी भाषा [illegible] इसके विकास के सम्बन्ध में कुछ भी कहने आवश्यकता नहीं है। यह तो तथ्य है कि संस्कृत और प्राकृत से लेकर जो भाषा उर्दू की सहेली और हमजोली के नाते पिछली क शताब्दियों में सबकी बोली का रूप धारण करती गई, वही हिन्दी भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा के रूप में विकसित होती हुई दिखाई रही है।

हिन्दी में इस समय करीब ६५ हजार शब्द हैं। उन्नीसवीं श के अन्त तक हिन्दी के सम्पूर्ण शब्दों की संख्या इस की अपेक्षा का कम थी और कौन कह सकता है कि बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रवे करने के साथ साथ हिन्दी शब्द-कोष का आकार अब की अपे अधिक बढ़ नहीं जायगा। अंग्रेजी के सम्पूर्ण शब्दों की संख्या इ समय चार लाख से ऊपर है। संसार की अन्य समृद्ध भाषाओं शब्द-संख्या भी लाखों में है। इस दशा में कोई वजह नहीं कि हिन् के शब्दों की संख्या क्रमश: स्वाभाविक रूप में बढ़ती चली न जाय।

आज जो हिन्दी बोली या लिखी जाती है, उसे अनेक लोगों राय में, खिचड़ी भाषा कहना चाहिये। उसमें कोई शब्द संस्कृत का है, कोई उर्दू का, कोई फ़ारसी का, कोई अरबी का, कोई पोर्चुगीज़ का कोई अंग्रेजी का और कोई भारतवर्ष की अन्य प्रान्तीय भाषाओं का यदि आप हिन्दी के किसी वाक्य को लेकर छापेखाने के छोकरे

[डिस्ट्री]ब्यूटरों) के समान उसका विभाजन (डिस्ट्रीब्यूशन) शुरू कर [दें तो] आप देखेंगे कि उसके प्रायः सभी शब्द विभिन्न भाषाओं के [कोषों] में वापस लौटते जायेंगे। आपके पास बाकी बच रहेंगी सिर्फ़ [क्रि]यायें और विभक्तियाँ और इनमें से भी अनेक ऐसी होंगी जिनके [सम्ब]न्ध में उर्दू दावे को झूठा साबित करने में काफ़ी प्रयत्न करने की [आव]श्यकता पड़ेगी।

उदाहरण के लिये मैं अपनी मेज पर रखी किसी हिन्दी पुस्तक [से य]ह एक वाक्य, जो पुस्तक खोलते ही मेरे सामने आ गया है, यहाँ [उ]द्धृत करता हूँ—"कई मिनटों के बाद आखिर ऊपर की मञ्जिल [व]ाली एक खिड़की खुली और उसमें से झाँककर दूकानवाले ने नीचे [क]ी ओर देखा। उसे दिखाई दिया कि एक अर्धनग्न-सी मनुष्य-मूर्ति [ला]लटेन हाथ में लिये उसके बरामदे के बाहर खड़ी।"

इन वाक्यों में 'कई, बाद आखिर, मञ्जिल, खिड़की, दूकान' आदि शब्द उर्दू और फारसी के हैं 'मिनट' शब्द अंग्रेजी का है। लालटेन और बरामदा शब्द पोर्चुगीज के हैं। 'अर्धनग्न, मनुष्य, मूर्ति' आदि शब्द संस्कृत के हैं।

यह सब होते हुए भी, यह कोई नहीं कह सकता कि हिन्दी कोई भाषा नहीं है। सच बात तो यह है कि वर्तमान युग के सभ्य-समाज में बोली जाने वाली सभी भाषाएँ वास्तव में खिचड़ी भाषाएँ हैं और वर्तमान संसार की सभी भाषाओं की यह खिचड़ी है भी बड़ी मजे-दार। क्या यह सच नहीं कि वर्तमान अंग्रेजी का शब्दकोष यदि ग्रीक, रोमन, हिब्रू और संस्कृत के सैकड़ों हजारों शब्दों को अपने में खपा न सकता तो वह आज इतना समृद्ध कभी न बन पाया होता! यही बात जर्मन, फ्रैंच, रशियन आदि संसार की अन्य समृद्ध भाषाओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

जिन लोगों को किसी अंग्रेजी ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद करने का कभी अवसर मिला है वे लोग इस बात को अच्छी तरह स[मझ] सकते हैं कि हिन्दी शब्द-कोष में शब्दों की कमी के कारण साहित्यि[क] को कितनी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। अंग्रेजी के पाँच-प[ाँच] और छः-छः शब्दों के लिये हिन्दी के एक ही शब्द से काम चला[ना] पड़ता है। विशेषकर मनोवैज्ञानिक भावप्रकाशन के लिए तो हिन्दी [में] शब्दों की बहुत कमी है। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकार थामस हा[र्डी] की कहानियों का अनुवाद करने के लिए अनेक स्थानों पर मु[झे] अंग्रेजी के एक शब्द का भाव हिन्दी में देते हुए एक पूरा वाक्य त[क] लिखना पड़ता है।

हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि वर्तमान हिन्दी (खड़ी बोल[ी] का प्रचलित स्वरूप) अभी अपने विकास की द्वितीय अवस्था में है। यह सच है कि उसका बचपन समाप्त होगया है। परन्तु आधुनि[क] हिन्दी की यह किशोरावस्था ही तो उसकी वृद्धि का उपयुक्त अवस[र] है। मुझे मालूम है कि हिन्दी के अनेक पण्डितों की राय में हिन्दी [में] एक भी नए शब्द का समावेश करना हिन्दी का रूप विकृत करने [के] समान है परन्तु ऐसे लोग, सम्भवतः अपने अनजान में ही, हिन्[दी] के विकास के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा सिद्ध हो रहे हैं। यह तो वैस[ी] ही बात है, जैसे पन्द्रह-सोलह बरस के एक बालक को इस उद्देश्य [से] फौलाद के फ्रेम में बन्द कर दिया जाय कि बाहर का आहार पाक[र] उसका शरीर बढ़ने न लगे! यह एक आशा का चिन्ह है कि हिन्दी [में] इस तरह के अपरिवर्तनवादियों की संख्या बहुत कम है।

अब प्रश्न यह है कि हिन्दी की नई संज्ञाओं, परिभाषाओं औ[र] शब्दों का स्रोत क्या हो। मेरी राय में हिन्दी के नए शब्दों के स्रो[त] निम्नलिखित हो सकते हैं—

१. संस्कृत ।
२. उर्दू ।
३. भारतवर्ष की प्रांतीय भाषाएँ ।
४. वे विदेशी शब्द जो सर्वसाधारण जनता की बोलचाल का भाग
रहे हैं ।

हिन्दुस्तान के लगभग ८० प्रतिशत लोग जो भाषाएँ बोलते हैं,
का स्रोत संस्कृत है । और यह हमारे देश के लिए सौभाग्य की
है कि भारतवर्ष की अधिकांश भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा
पास शब्दों का अक्षय कोष है । संस्कृत का निर्माण इतने वैज्ञानिक
आधारों पर किया गया है कि उसमें शब्दों की कमी नहीं हो सकती ।
हाँ शब्दों की अक्षय टकसाल है । इस टकसाल से जब चाहें [illegible]
गढ़े जा सकते हैं । संस्कृत में लगभग तीन हजार धातुएँ हैं और
उनके आधार पर चाहे जितने नए शब्द तैयार किए जा सकते हैं ।

संस्कृत जैसी वैज्ञानिक भाषा को, उसके व्याकरण [illegible]
तथा कतिपय अन्य कारणों ने जिस तरह अप्रचलित, [illegible]
भाषा बना दिया, उसके सम्बन्ध में यहाँ कुछ भी [illegible]
[illegible] नहीं है । इस बात से बहुत कम लोगों का [illegible]
के लिए नये पारिभाषिक शब्द (टेकनिकल टर्म्स) [illegible]
पड़ने चाहिए । इसके दो कारण हैं । पहला [illegible]
समृद्ध और वैज्ञानिक भाषा से हमें जितने [illegible]
मिल सकते हैं वैसे शब्द संसार की अन्य [illegible]
गढ़े जा सकें । दूसरा यह कि भारतवर्ष की [illegible]
से निकली हैं अथवा उन पर संस्कृत का [illegible]
में बड़ी आसानी के साथ ऐसा प्रबन्ध [illegible]
के वे पारिभाषिक और वैज्ञानिक शब्द [illegible]

गुजराती, मराठी और पंजाबी में भी बरते जायँ। मेरा तो ख्याल है कि दक्षिण की भाषाओं के लिए भी उन पारिभाषिक शब्दों को अपना लेना कुछ बहुत कठिन न रहेगा, क्योंकि उन पर संस्कृत का गहरा प्रभाव सदियों से विद्यमान है। इस उद्देश्य से कभी अन्तर्प्रान्तीय पारिभाषिक-शब्द-सम्मति की स्थापना भी की जा सकेगी।

हिन्दी अपने विकास में संस्कृत की अनेक प्रथाओं से मदद लेगी और इस दृष्टि से आतिरिक्त शक्तियाँ (रैंजाजुअरी पावर्स) संस्कृत में ही रहेंगी, इस बात से भी मुझे इनकार नहीं है। तथापि हिन्दी के विकास में अन्य भाषाओं से, विशेषकर उर्दू से, हमें जो सहायता मिलती है, उसे स्वीकार किए बिना हम हिन्दी को व्यापक और प्रभावशालिनी नहीं बना सकते।

हिन्दी और उर्दू को दो बहनें कहना भी अत्युक्ति न होगी। दोनों का विकास एक-सी दशाओं और लगभग एक ही समय में हुआ है। उर्दू छोटी बहन है और हिन्दी बड़ी। इन दोनों का मुख्य भेद लिपि सम्बन्धी है। खड़ी भाषा पर उर्दू मुहावरों का जो प्रभाव पड़ा उसने वर्तमान हिन्दी को अधिक सजीव और सुन्दर बना दिया है, इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता। मेरा तो ख्याल है कि हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के पोषकों में से यदि साम्प्रदायिकता की संकुचित और विषैली मनोवृत्ति नष्ट हो जाय, तो उर्दू का सम्पूर्ण शब्दकोष, फारसी और अरबी शब्दों को छोड़कर, बड़ी आसानी के साथ हिन्दी में पचा लिया जा सकता है।

जिस दिन यह बात हो जायगी, उस दिन हम देखेंगे कि हमारी मातृ-भाषा हिन्दी सहसा बहुत अधिक समृद्ध और बलशालिनी बन गई है।

…सवीं सदी में हिन्दी-आंदोलन के अनेक नेताओं तथा साहित्यिकों …स तथ्य को समझा है और उन्होंने हिन्दी में सैकड़ों-हजारों …ब्दों और मुहावरों को अपना लेने का सफल प्रयत्न भी किया है। …न हिन्दी साहित्य के तीन प्रमुख स्तंभ साहित्यिकों का नाम इस …म्बन्ध में पेश किया जा सकता है, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, …द्म पद्मसिंह शर्मा और मुन्शी प्रेमचन्द। कौन कह सकता है कि …ज हिन्दी पर इन तीनों महान् साहित्यिकों की गहरा छाप नहीं है?

उर्दू के अधिकांश शब्दों को, जो उत्तर भारत की सर्व-साधारण …नता में बोले और समझे जाते हैं, अपने में खपाकर हिन्दी …स्सन्देह अधिक सम्पन्न और सजीव बन सकेगी, परन्तु यह कार्य भी …धि प्रयत्न-पूर्वक हो—धीरे-धीरे और समझदारी के साथ।

भारतवर्ष के अनेक राजनीतिक नेताओं ने इस सम्बन्ध में एक …या दृष्टिकोण हम लोगों के सम्मुख पेश किया है। इनका कहना है …कि न हिन्दी पर बल दो, न उर्दू पर। दोनों भाषाओं के आसान …ब्द लेकर 'हिन्दुस्तानी' नाम से एक नई भाषा की सृष्टि करो।

यह हिन्दुस्तानी की बात बहुत कोशिश करने पर भी मैं पसन्द …हीं कर सका। इस हिन्दुस्तानी को महात्मा गांधी और पं० जवाहर-…लाल नेहरू जैसे इस युग के महापुरुषों का आशीर्वाद प्राप्त रहने पर भी …मेरी राय में साहित्यिक दृष्टि से सिर्फ ऐसे लोग ही इस नई हिन्दुस्तानी …के पैरोकार हो सकते हैं, जिन्हें हिन्दी या उर्दू के साहित्य से कुछ …विशेष या गहरा वास्ता न हो। यह जानते हुए भी कि हिन्दी का शब्द-…कोष अभी अमीर नहीं है, यह सलाह देना कि हिन्दी में आप संस्कृत …के शब्दों का प्रयोग इसलिए न कीजिए, क्योंकि सर्व-साधारण किसान …इन्हें अपने दैनिक व्यवहार में इस्तेमाल नहीं करते अथवा उत्तर

समृद्ध करने में कहाँ तक सहायक हो सकती है, इस बात का अन्दाज आसानी के साथ लगाया जा सकता है। शेष १० प्रतिशत जनता में से जिन लोगों में थोड़ा-बहुत साहित्यिक रुचि उत्पन्न हो चुकी है उनका एक बहुत बड़ा भाग अपनी प्रान्तीय भाषाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है और हिन्दी वालों में तो छोटेपन की इस सकामक बीमारी का विशेष प्रकोप है। हम लोग जब अपनी मातृ भाषा के साहित्य की दरिद्रता, विपन्नता, और दुर्बलता की चर्चा करते हैं तो इस बात को भूल जाते हैं कि यह तो हमारे अपने ही मस्तक का लांछन है। हिन्दी का साहित्य यदि दरिद्र है तो उसे समृद्ध बनाना हम लोगों का ही तो काम है।

इस देश के पढ़े लिखे लोगों में आज जो भाषा दैनिक व्यवहार में लाई जाती है, उसे 'खिचड़ी भाषा' भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस भाषा के भाग दाल और चावल की तरह आपस में मिल नहीं जाते। लाहौर के कालेजों में जब मैं अंग्रेजी शब्दों को पंजाबी और उर्दू की क्रियाओं के साथ स्थानीय मुहावरों में गूँथ कर बोले जाते सुनता हूँ तो यह समझ नहीं आता कि इस भाषा को कौन-सा नाम दिया जा सकता है। यही दशा प्राय: सम्पूर्ण देश की पढ़ी-लिखी जनता की है। अपने को कुलीन कहने या समझने वाले अनेक घरानों ने अब अपनी पारिवारिक बोलचाल की भाषा को भी अंग्रेजी ही बना लिया है। यह दशा निस्सन्देह चिन्ताजनक है। परन्तु इस लेख में इन परिस्थितियों का जिक्र मैंने सिर्फ यही बात सिद्ध करने के लिये किया है कि भारतवर्ष की, विशेष कर हिन्दी-भाषा प्रान्तों की, पढ़ी-लिखी जनता की बोलचाल के लिये कोई स्टैण्डर्ड हिन्दी प्रचलित न रहने का एक असर हिन्दी के बढ़ते हुए शब्द भण्डार को समुचित ढंग से विकसित न होने के रूप में भी पड़ रहा है। अंग्रेजी का अनुकरण हमारे देश की भाषाओं को ठीक ढंग से पनपने नहीं दे रहा है। एक

शैली भाषा को ही सारी महत्ता देकर हमारे देश के पढ़े लिखे लोग अपने दैनिक व्यवहार के लिए किसी स्टैण्डर्ड-हिन्दी की जब कोई विशेष आवश्यकता ही अनुभव नहीं करते, तब अन्य प्रान्तीय भाषाओं से शब्दों और प्रयोगों के आदान-प्रदान का सवाल ही कहाँ उठता है।

अब रहे विदेशी शब्द। पोर्चगीज़ के मेज़, कुर्सी, चमचा, कमरा, लालटेन, चाकू आदि, बीसों शब्द हिन्दी का भाग बन चुके हैं। अंग्रेज़ी के सैकड़ों शब्द इस समय तक हिन्दी में खपा लिये जा चुके हैं। इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि हिन्दी के वर्तमान लेखकों की शैली और मुहावरों पर अंग्रेज़ी का बहुत स्पष्ट प्रभाव पड़ रहा है। अभी यह नहीं कहा जा सकता कि अंग्रेज़ी के कितने शब्द हिन्दी में खपा लिए जा सकेंगे। इस युग में संसार भर की उन्नत भाषाएं एक दूसरे से लाभ उठा रही हैं और इसमें बुराई कुछ भी नहीं है।

हिन्दी का शब्द-कोष बढ़ रहा है और अभी उसके बढ़ने की रफ्तार भी तेज़ हो जाने की सम्भावना है। इस सम्बन्ध में निम्न-लिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

१. संस्कृत में 'अमर कोष' जैसी डिक्शनरियों ने पर्यायवाची शब्दों के सम्बन्ध में जिस दूषित मनोवृत्ति को जन्म दिया है, उसका प्रभाव हिन्दी पर भी पड़ा है। अंग्रेज़ी जैसी उन्नत भाषा में एक शब्द का सिर्फ एक ही अर्थ होता है। शेक्सपीयर द्वारा प्रयुक्त किए गये किसी एक शब्द के बदले आप कोई दूसरा शब्द शायद ही तुम्हा सकें और मेरी राय में किसी भाषा के स्वास्थ्य की पहिचान ही यही है। एक उन्नत भाषा के प्रत्येक शब्द का अपना एक इतिहास होना

गंगा-तट

([illegible])

करीब छः बज चुके थे। मैं पुल के किनारे वाले जंगले पर दोनों हाथ रक्खे, खड़ा था। गंगा के तट पर और नर नारियों की भीड़ खड़ी थी। हर की पैड़ी पर [illegible] पुजारी हाथ में जलती बत्तियाँ लिए आरती कर रहे थे, दो एक आदमी घण्टे बजा रहे थे। कभी-कभी शंख भी सुनाई पड़ता था, क्योंकि सभी लोग कुछ-न-कुछ मुँह में बोल रहे थे इसलिए जो कुछ पुजारी कह रहे थे, वह मुझे सुनाई न देता था।

हर की पैड़ी के सामने प्लेटफार्म की सीढ़ियों पर खड़े लोगों की मानसिक अवस्था विचित्र ही थी। विचित्र इस लिए कि मैंने ऐसा बहुरंग भक्ति-भाव मूर्त रूप में पहले कभी न देखा था। एक तरुणी अपने स्लीपर पीछे उतार कर हाथ जोड़े, सिर नवाए खड़ी है। मुँह से कुछ उच्चारण कर रही है, परन्तु वह सुना नहीं जाता। परे दो-चार मनुष्यों को छोड़ कर एक निर्बल वृद्धा मैली सी साड़ी बाँधे खड़ी है। इसकी आँखें सामने आरती की ज्योति पर लगी हैं। मुँह से यह भी कुछ कह रही है, लेकिन बहुत ठहर ठहर कर, मानो राम-राम कहते हुए उसे दम चढ़ रहा है। इस बुढ़िया के साथ ही सब से निचली सीढ़ी पर एक शिखा-सूत्रधारी ब्राह्मण, माथे पर तिलक लगाए दोनों हाथों को ऊँचे जोड़ कर खड़ा है। इतने में भीड़ को चीरते हुए एक दम्पति सब से आगे निकल आया। पति के हाथों में फूलों का दोना था। पत्नी ने फूलों के ठीक बीच में रक्खे दिये को जलाया और फिर

अपने हाथों से ही गङ्गा में उसका प्रवाह किया। तब उन दोनों ने गङ्गा को नमस्कार किया और सीधे खड़े हो गए। ऐसे दीये-रक्खे फूलों के दोने पीछे से भी कितने ही तैरते चले आ रहे थे। लहरों के साथ कभी ये ऊपर होते कभी नीचे।

यों ये अच्छी तरह से जलते रहते, परन्तु जब ज़रा हवा तेज़ हो जाती तो मध्यम पड़ जाते। पुल के पास ही खड़ी एक माता ने जब दिया जला कर अपनी लघु पुष्प-नौका बहाई तो उनके पाँव में खड़ा छोटा बालक तालियाँ पीटने लगा। उसकी खुशी की कोई हद न रही, जब उसने देखा कि एक के बाद दूसरी पुष्प नौका बहे चली आ रही है। इस बीच में माता ने कहा—'नन्हा बेटा, हाथ जोड़ दो!' बालक माता के मुख की ओर देखने लगा। माँ को हाथ जोड़े देखकर उसने भी वैसा ही कर दिया।

इस आरती को देख कर मुझे महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' का वह श्लोक याद हो आया जिसमें उन्होंने यक्ष द्वारा मेघ को बताया है कि जब तुम हरिद्वार पहुँचे तो वहाँ सायं को हर की पैड़ी पर होने वाली आरती को ज़रूर देखना।

एक घण्टा पहले जब मैं इधर प्लेटफार्म पर आया तब दिन कुछ बाकी था। दो-चार बार इधर से उधर घूमने पर मैंने कई दृश्य देखे। तीन जगह कथावाचक लोगों को कथा सुना रहे थे। हारमोनियम और तबला, इन दोनों कृत्रिम साधनों का वे उपयोग कर रहे थे। ये कथावाचक मामूली हिन्दी पढ़े मालूम होते थे, क्योंकि इनका शब्दोच्चारण बहुत गलत था। एक इनमें से राधेश्याम की रामायण गा रहा था और दूसरा किसी और की बनाई पुस्तक के पन्ने उलट रहा था। इन कथावाचकों के गिर्द सब से ज्यादा लोग जमा थे।